सामाजिक विज्ञान

भाग - 1

नवीं कक्षा के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तक

अर्जुन देव

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रकाशक की टिप्पणी

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) बच्चों और शिक्षकों के लिए विद्यालयी पाठ्यपुस्तकें और अन्य शैक्षिक सामग्री तैयार तथा प्रकाशित करती रही है। ये प्रकाशन विद्यार्थियों, शिक्षकों, अभिभावकों और शिक्षक-प्रशिक्षकों से प्राप्त पुनर्निवेशन के आधार पर नियमित रूप से संशोधित किए जाते हैं। एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा किए गए शोध-कार्य भी इस पाठ्य सामग्री के संशोधन व उसे अद्यतन बनाने का आधार होते हैं।

यह पुस्तक विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा और इसके अनुरूप तैयार किए गए पाठ्यक्रम पर आधारित है। मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने इतिहास की पुस्तकों के पुनरीक्षण के लिए इतिहासकारों की एक समिति का गठन किया। इस समिति की अनुशंसा को ध्यान में रखते हुए एन.सी.ई.आर.टी. की कार्यकारिणी समिति ने 19 जुलाई 2004 को आयोजित बैठक में यह निर्णय लिया कि अकादमिक सत्र 2005-2006 में इतिहास की पुरानी पुस्तकें कुछ संशोधनों के साथ इस प्रकार वापस लाई जाएं, ताकि वे वर्तमान पाठ्यक्रम से संगत हो सकें। अन्य विषयों की पाठ्यपुस्तकों के परीक्षण के लिए त्वरित समीक्षा समितियों का भी गठन किया गया। इस निर्णय का अनुपालन करते हुए इतिहास की पुरानी पाठ्यपुस्तक *सभ्यता की कहानी : भाग-2* के 9-13 अध्याय कुछ आवश्यक संशोधनों के साथ प्रस्तुत है। यह पुस्तक *सामाजिक विज्ञान : भाग-1* के रूप में प्रकाशित की गई है, जो सामाजिक विज्ञान के संशोधित पाठ्यक्रम की इकाई-1 के अनुरूप है। हमें आशा है कि पुस्तक का यह संशोधित संस्करण शिक्षण व अधिगम का प्रभावी माध्यम सिद्ध होगा। इस पाठ्यपुस्तक की गुणवत्ता में और अधिक सुधार के लिए हमें आपके सुझावों की प्रतीक्षा रहेगी।

सचिव
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
जनवरी 2005

भारत का संविधान

उद्देशिका

हम, भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न, समाजवादी, पंथ-निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को:

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय;**

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की **स्वतंत्रता;**

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता**
प्राप्त कराने के लिए

तथा उन **सब में** व्यक्ति की गरिमा और **राष्ट्र की एकता और अखंडता** सुनिश्चित करने वाली **बंधुता** बढ़ाने के लिए;

दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को **एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

विषय-सूची

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51 क

मूल कर्तव्य - भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह -

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे;

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे;

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे;

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे;

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों;

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे;

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे;

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे;

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे;

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू सके; और

(ट) यदि माता-पिता या संरक्षक है, छह वर्ष से चौदह वर्ष तक की आयु वाले अपने, यथास्थिति, बालक या प्रतिपाल्य को शिक्षा के अवसर प्रदान करे।

अध्याय 1

साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद

जब कोई देश अपनी सीमा के बाहर के क्षेत्र के लोगों के आर्थिक और राजनीतिक जीवन पर अपना शासन नियंत्रण अथवा आधिपत्य कायम करता है तो इस व्यवहार को 'साम्राज्यवाद' के नाम से पुकारा जाता है। ऐसा करने के लिए सेना का उपयोग किया जा सकता है या कोई दूसरा तरीका भी अपनाया जा सकता है। ख़ास तौर से उपनिवेशवाद के द्वारा भी ऐसा होता है या उपनिवेशों को जीत कर तथा उन पर कब्ज़ा करके या अन्य तरीकों से उन पर नियंत्रण कायम कर और उन्हें परतंत्र बनाकर यह काम संभव है। यह बात ध्यान रखने की है कि किसी देश द्वारा किसी दूसरे देश अथवा जनता पर अधिकार करना या उन पर प्रत्यक्ष शासन करना हमेशा साम्राज्यवाद की वास्तविक विशेषता नहीं रही है। एक साम्राज्यवादी देश और उसके नियंत्रणाधीन देश या उपनिवेश के बीच संबंधों की वास्तविक विशेषता शोषण है। यह शोषण प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण के माध्यम से भी हो सकता है और उसके बिना भी। इसका अर्थ है कि वह साम्राज्यवादी देश (जिसे कभी-कभी "मेट्रोपोलिस" कहा जाता है और जिसका शाब्दिक अर्थ "मातृदेश" है) अपने उपनिवेश को या अपने परोक्ष नियंत्रण वाले देश को अपना आर्थिक और राजनीतिक हित पूरा करने के लिए अपने अधीन लाता है।

एशिया और अफ्रीका तथा दुनिया के अनेक दूसरे भागों के अधिकांश देश अभी हाल तक किसी न किसी साम्राज्यवादी देश के नियंत्रण में थे। कुछ समय पहले तक भारत भी ब्रिटिश शासन के अधीन था। इनमें वे देश भी शामिल हैं जिन पर साम्राज्यवादी देशों का प्रत्यक्ष शासन तो नहीं था पर उनका शोषण कमोबेश उसी तरह किया जाता था जिस तरह उन देशों का, जिन पर प्रत्यक्ष साम्राज्यवादी शासन स्थापित था। आज की दुनिया में जबकि लगभग सभी देश राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हैं, पूरी तरह साम्राज्यवादी नियंत्रण समाप्त नहीं हुआ है। स्वतंत्र होने पर आर्थिक दृष्टि से कम विकसित देशों के शोषण की, ख़ासकर आर्थिक शोषण की और उन पर वर्चस्व स्थापित करने की प्रक्रिया को 'नव उपनिवेशवाद' कहा जाता है।

एशिया, अफ्रीका तथा अमरीकी महाद्वीप पर साम्राज्यवादी नियंत्रण स्थापित करने तथा उनको उपनिवेश बनाने का पहला चरण 16 वीं सदी में आरंभ हुआ था। 16 वीं और 18 वीं सदियों के बीच के काल में यूरोपियों द्वारा भौगोलिक खोजों के बाद पुर्तगाल, स्पेन, इंग्लैंड और फ्रांस ने बड़े-बड़े औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किए थे। अमरीकी महाद्वीप में दक्षिणी अमरीका के अधिकांश भाग पर (ब्राजील को छोड़ कर, जिस पर पुर्तगाल का कब्ज़ा था), मध्य अमरीका, मैक्सिको, वेस्ट इंडीज़ तथा आज के संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ भागों पर स्पेन ने कब्ज़ा कर लिया। उत्तरी अमरीका के कुछ भागों पर इंग्लैंड तथा फ्रांस ने कब्ज़ा किया। यूरोप के इन देशों से अनेक लोग स्थायी रूप से बसने के लिए इन उपनिवेशों में चले गए। इस काल में अफ्रीका महाद्वीप में यूरोपियों का नियंत्रण लगभग पाँचवें भाग पर, खासकर समुद्रतटीय भागों पर ही था। यह दासों के व्यापार का काल था। 17 वीं सदी में दासों का व्यापार करने वाले यूरोपीय लोग प्रति माह लगभग 5000 अफ्रीकियों को

गुलाम बनाकर अमरीका भेजते। एशिया में यूरोप वाले मुख्यतः व्यापार के उद्देश्य से आए। पुर्तगाल, हालैंड, इंग्लैंड, फ्रांस और दूसरे देशों के व्यापारी अपनी-अपनी सरकारों को समर्थन पाकर एशिया के देशों में अपने व्यापारिक ठिकाने कायम करने तथा उनके साथ व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करने की कोशिश कर रहे थे। इनमें से हर एक युद्ध द्वारा तथा अपना राजनीतिक प्रभाव और नियंत्रण बढ़ाकर दूसरों को उस क्षेत्र विशेष से बाहर रखने का प्रयास करता था। एशियाई व्यापार पर पुर्तगालियों का नियंत्रण था परंतु भारत और इंडोनेशिया पर नियंत्रण स्थापित करके क्रमशः अंग्रेज़ों और डचों ने उन्हें इस स्थिति से वंचित कर दिया।

आमतौर पर साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशीकरण का पहला चरण 18 वीं सदी के अंत तक समाप्त हो चुका था। अंग्रेज़ों द्वारा भारत की विजय जो 18 वीं सदी के मध्य में आरंभ हुई थी, 19 वीं सदी के मध्य तक पूरी हो चुकी थी। इस बीच चीन के साम्राज्यवादी घुसपैठ का आरंभ हो चुका था।

16 वीं से 18 वीं सदी तक का काल यूरोपीय उपनिवेशवादी शक्तियों द्वारा खुली लूट का काल था। जिसकी भूमिका पूंजीवादी व्यवस्था के विकास तथा औद्योगिक क्रांति में भी रही है।

औद्योगिक क्रांति के आरंभिक काल में उपनिवेशों के लिए भाग-दौड़ तथा उपनिवेशों को लेकर यूरोपीय देशों के बीच शत्रुता कम हो गई थी। उपनिवेशों की यह दौड़ तथा ये औपनिवेशिक शत्रुताएँ 19 वीं सदी के अंत के दशकों में फिर से उभरी। 1875 के आस-पास आरंभ होकर 1914 तक बने रहने वाले साम्राज्यवाद के इस चरण को अक्सर 'नव साम्राज्यवाद' कहा जाता है। यह चरण उस आर्थिक प्रणाली की उपज था जो औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उभरी थी। इस चरण में कुछ उद्योगीकृत पूँजीवादी देशों ने दुनिया के लगभग शेष पूरे भाग पर अपना राजनीतिक और आर्थिक नियंत्रण और प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इस नियंत्रण तथा प्रभुत्व के विभिन्न रूपों में प्रत्यक्ष औपनिवेशिक शासन, प्रभाव-क्षेत्र की प्रणाली तथा विभिन्न प्रकार के आर्थिक और व्यापारिक समझौते भी शामिल थे। इस काल में स्पेन तथा पुर्तगाल जैसे कुछ साम्राज्यवादी देशों की शक्ति घटी तथा ऐसे नए देश उभरे जिन्होंने साम्राज्यवादी प्रसार तथा शत्रुता के इस चरण में अधिकाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। ब्रिटेन तथा फ्रांस जैसे पुराने साम्राज्यवादी देशों की शक्ति बनी रही और वे अपना साम्राज्यवादी प्रसार करते रहे। परंतु इस काल में जो नए साम्राज्यवादी देश उभरे और औपनिवेशिक प्रभुत्व की दौड़ में शामिल हुए, वे थे- जर्मनी, इटली, बेल्जियम, संयुक्त राज्य अमरीका और आगे चलकर जापान।

साम्राज्यवाद के विकास में सहायक दशाएँ

अगर आप 19 वीं सदी में दुनिया की परिस्थितियाँ देखें तो वे साम्राज्यवाद के विकास के अनुकूल लगती हैं। साम्राज्यवादी देशों ने इन परिस्थितियों का भरपूर लाभ उठाया तथा अपने हितों को पूरा करने वाली प्रत्येक विजय को उचित बताया। वास्तव में अधिक शक्तिशाली देशों ने साम्राज्यवाद को ऐसे पेश किया जैसे कि वह एक आवश्यक और स्वाभाविक घटना हो।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण उत्पन्न माँगें

औद्योगिक क्रान्ति के कारण वस्तुओं का उत्पादन बहुत अधिक बढ़ गया। इसने उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली को भी जन्म दिया। पूँजीवाद में पूँजीपति के लिए अधिकतम मुनाफा ही उत्पादन का प्रमुख उद्देश्य होता है। भारी मुनाफा कमाने के लिए पूँजीपतियों ने दो रास्ते अपनाए - अधिक से अधिक उत्पादन करना तथा मजदूरों को कम से कम मज़दूरी देना। वस्तुओं का उत्पादन घरेलू माँग से बहुत अधिक हो रहा था। कम मजदूरी का अर्थ था – बहुसंख्यक जनता की कम क्रय-शक्ति। इससे घरेलू माँग और भी सीमित हो जाती थी इसलिए अपने उद्योगों में बन रही वस्तुओं के लिए पूँजीवादी देशों के लिए नए बाज़ार और नए ग्राहक खोजना आवश्यक था।

एक उद्योगीकृत देश द्वारा अन्य उद्योगीकृत देशों को माल बेचने की संभावनाएँ भी कम थीं। यूरोप के जिन देशों में औद्योगिक क्रांति का प्रसार हुआ, वे अपने उद्योगों को संरक्षण और प्रोत्साहन देने का हर प्रयास करते थे।

ऐसा करने के लिए सभी यूरोपीय देश अब 'संरक्षणवादी नीति' का पालन कर रहे थे। इसका अर्थ यह है कि हर एक देश दूसरे देशों से आयातित माल पर भारी महसूल या कर लगाता था।

यूरोपीय देशों को अपने अधिशेष (बचे हुए माल) के लिए बाज़ार, एशिया और अफ्रीका में ही मिल सकते थे जहाँ औद्योगिक क्रांति नहीं हुई थी। इन क्षेत्रों पर स्थापित राजनीतिक प्रभुत्व के कारण वहाँ माल बेचना और भी आसान हो गया। इसके कारण हर देश अपने बाज़ार को अपने दूसरे यूरोपीय प्रतियोगियों से सुरक्षित रख सकता था और स्थानीय स्तर पर उत्पादित माल से होने वाली प्रतियोगिता को भी समाप्त कर सकता था।

यूरोपीय देशों को बाज़ार के अलावा कच्चे माल के नए स्रोतों की भी आवश्यकता थी। जैसे-जैसे उद्योग बढ़ते जाते थे, उन उद्योगों के लिए कच्चे माल की आवश्यकता भी बढ़ती जाती थी और ये सब अपने ही देश में नहीं मिल पाता था, या जो मिलता था, वह कम से कम पर्याप्त तो नहीं था। भारत और मिस्र कपास के तथा काँगो और ईस्ट इंडीज़ रबर के अच्छे स्रोत थे। अनाज, चाय, काफ़ी, नील, तम्बाकू और चीनी की भी साम्राज्यवादी देशों को आवश्यकता थी। इन्हें पाने के लिए आवश्यक था कि जिन देशों में इनकी पैदावार संभव थी वहाँ उत्पादन का ढर्रा बदला जाए। कभी-कभी एक देश में पैदा माल को दूसरे किसी देश में बेचना पड़ता था ताकि वहाँ से आने वाले माल की कीमत चुकाई जा सके। उदाहरण के लिए, अंग्रेजों ने भारत में अफ़ीम की खेती को बढ़ावा दिया ओर वे उस अफ़ीम को भारत से चीन ले जाते थे ताकि इस तरह चीन में ख़रीदे हुए माल की कीमत दे सकें। कुछ देशों में साम्राज्यवादियों ने ज़बरदस्ती एक या दो ऐसी फ़सलों की खेती कराई जिनकी उन्हें अपने उद्योगों के लिए कच्चे माल के रूप में ज़रूरत थी। कोयला, लोहा, टिन, सोना, ताँबा और आगे चलकर तेल — ये सब एशिया और अफ्रीका के वे संसाधन थे जिन पर यूरोपीय देश नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे।

19 वीं सदी के अंतिम भाग में साम्राज्यवादी देश एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका को अपनी पूँजी लगाने का क्षेत्र समझने लगे। एशिया, अमरीका और अफ्रीका में कच्चे मालों की इफ़रात तथा यूरोपियों से कम मज़दूरी पर काम करने के लिए उपलब्ध लोगों की भारी संख्या जैसी बातों ने इन माहद्वीपों को पूँजी-निवेश के लिए बहुत आकर्षक बना दिया। यूरोप में लगी पूँजी पर केवल तीन या चार प्रतिशत मुनाफ़ा होता था, पर एशिया और अफ्रीका में उसी पर 20 प्रतिशत तक मुनाफ़ा मिल सकता था। 19 वीं सदी के लगभग अंत से दूसरे देशों में निवेश के लिए पूँजी का निर्यात वस्तुओं के निर्यात से अधिक महत्वपूर्ण हो गया। यह बैंकों आदि वित्तीय संस्थाओं की शक्ति और प्रभाव में वृद्धि के कारण संभव हो सका जो उद्योगों को कर्ज़ देकर वे उन पर अपना नियंत्रण बनाए रखते थे। उपनिवेशों में पूँजी का यह निवेश उनका उद्योगीकरण करने के लिए नहीं किया गया। यह निवेश ऐसे उद्योगों में किया गया जो मुख्यतः निर्यात के लिए वस्तुओं का उत्पादन कर सकें (जैसे खदानें) या उन उद्योगों में किया गया जो उस उपनिवेश की अर्थव्यवस्था पर साम्राज्यवादी देश का नियंत्रण और मजबूत बना सकें (जैसे कि रेलें)। बाज़ारों और कच्चे माल की तरह इस के लिए भी राजनीतिक प्रभुत्व प्रायः आवश्यक समझा ज़ाता था। पूँजी का निर्यात करके किसी देश पर प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण स्थापित किए बिना भी उसकी अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण रखा जा सकता था।

यूरोपियों का 'तर्क' था कि राजनीतिक प्रभुत्व के बिना पूँजी-निवेश करना शायद 'सुरक्षित' न हो। उनकी दलील थी कि ऐसे देशों में अगर कोई विद्रोह हो जाए जिसे कोई कमज़ोर सरकार न दबा सके या सरकार ही बदल जाए तो न केवल उनका मुनाफ़ा बल्कि पूरा धन ही डूब सकता है। इसका उपाय यही था कि जिन देशों में पूंजी-निवेश किया जाए वहां राजनीतिक प्रभुत्व भी स्थापित किया जाए। इसी उपाय के लिए, उदाहरण के तौर पर, उत्तरी अफ्रीका में स्थित मोरक्को 'फ्रेंच मोरक्को' बन गया। फ्रांसीसी पूँजी निवेशकों ने अपनी सरकार से कहा कि वह इसका अधिग्रहण कर ले।

यातायात-संचार में सुधार

औद्योगिक क्रांति के कारण यातायत और संचार में जो परिवर्तन आए उनसे भी साम्राज्यवाद का प्रसार आसान

हो गया। यूरोप के स्वामी देशों और एशिया तथा अफ्रीका के देशों के बीच माल ढोने का काम भाप के जहाज़, पुरानी पालदार नावों की तुलना में काफी तेजी से कर सकते थे। सस्ते श्रम के द्वारा साम्राज्यवादी देशों ने अपने नियंत्रण में किये गए क्षेत्रों में रेलें बिछाईं और जल-यातायात का विकास किया। इनके द्वारा वे इन महद्वीपों के अंदरूनी भागों से भी कच्चा माल ला सकते थे तथा अपने तैयार माल को नए बाज़ारों में बेच सकते थे। इस तरह दुनिया का हर एक क्षेत्र उद्योगीकृत देशों की पहुँच में आ गया।

घोर राष्ट्रवाद : दंभ और शक्ति

19 वीं सदी का उत्तरार्द्ध घोर राष्ट्रवाद का काल था। जर्मनी तथा इटली अपने अलग-अलग राज्यों को एक करके राष्ट्र बन चुके थे। 19 वीं सदी के इस काल में उग्रराष्ट्रवाद (शाविनिज़्म) भी जुड़ गया। अनेक राष्ट्रों ने दूसरे जनगणों पर अपनी श्रेष्ठता की कहानियाँ गढ़ीं। हर एक को लगता था कि उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा में वृद्धि के लिए उसके पास भी उपनिवेश होने चाहिएं। 19 वीं सदी के इस दौर में साम्राज्यवाद ज़माने का फैशन बन गया। साम्राज्यवाद के विचार को फैलाने के लिए इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी में लेखकों और वक्ताओं ने संस्थाएँ बना लीं। यूरोपीय देश अपने अधीन क्षेत्रों को अपना साम्राज्य कहकर बड़े गर्व का अनुभव करते थे। समुद्र पार स्थित देशों पर नियंत्रण करना पश्चिमी दुनिया में एक वांछित उद्देश्य बन गया।

साम्राज्यवादी देशों ने एशिया और अफ्रीका के कुछ भागों पर कब्ज़ा उनके सैनिक या रणनीतिक महत्व के लिए किया। उदाहरण के लिए, इंग्लैंड को पोर्ट सईद, अदन, हाँगकाँग, सिंगापुर और साइप्रस की आवश्यकता थी-इंग्लैंड की रक्षा के लिए नहीं बल्कि प्रतियोगी राष्ट्रों से अपने कब्ज़े वाले क्षेत्रों तथा भारत के व्यापारिक रास्तों की रक्षा के लिए। इन स्थानों में उसने नौसैनिक अड्डे और कोयला-पानी के स्टेशन बनाए तथा इस प्रकार विदेशों में अपनी शक्ति को मजबूत कर लिया। आगे आप देखेंगे कि प्रतियोगी राष्ट्रों ने भी दूसरी जगहों पर ऐसे ही अड्डे बनाए। एक उपनिवेश जीतने के कारण एक चेन-प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती थी। कोई देश एक उपनिवेश पर कब्ज़ा करता तो उसकी सुरक्षा के लिए उसे दूसरे उपनिवेश की आवश्यकता होती और इस प्रकार यह क्रम चलता रहता।

समुद्रपारीय अधिकार क्षेत्र इसलिये भी उपयोगी थे क्योंकि वे साम्राज्यवादी देश की मानव शक्ति को बढ़ाते थे। औपनिवेशिक देशों के कुछ लोगों को विजय-युद्धों में उपयोग के लिए अक्सर बलपूर्वक सेना में भर्ती कर लिया जाता, और दूसरों से कुछ निश्चित बर्षों तक दूसरे औपनिवेशिक अधिकार क्षेत्रों में बागानों और खदानों में काम करने के लिए अनुबंध कराया जाता। उपनिवेशों की मानव-शक्ति का उनके प्रशासन के निचले स्तरों पर भी उपयोग किया जाता था।

'सभ्यकारी लक्ष्य' के विचार

अनेक यूरोपीय लोगों के विचार में साम्राज्यवादी प्रसार एक बहुश्रेयस कार्य था। वे इसे दुनिया के 'पिछड़े' जनगणों तक सभ्यता पहुँचाने का उपाय मानते थे। प्रसिद्ध अंग्रेज़ी लेखक रुडयार्ड किप्लिंग ने अपने देश-वासियों से आग्रह किया कि वे, उसके शब्दों में, 'गौरवर्ण मानव का बोझ उठाएँ।' फ्रांस के जूल्स फेरी ने कहा कि 'हीन जातियों को सभ्य बनाना श्रेष्ठ जातियों का कर्तव्य है।'

ईसाइयत के प्रसार के लिए समर्पित ईसाई मिशनरियों की भी साम्राज्यवादी विचारों के प्रसार में भूमिका रही। कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर अक्सर वे अनजान क्षेत्रों में अकेले चले जाते, उनके पीछे-पीछे मुनाफाखोर व्यापारी और सैनिक भी जाते। मिशनरियों की रक्षा के लिए अक्सर युद्ध हुए। यह सब पश्चिम के अधिकांश लोगों को एकदम स्वाभाविक लगता था क्योंकि वे एशिया और अफ्रीका के जनगणों को सभ्य तथा ईसाई बनाना अपना राष्ट्रीय कर्तव्य मानते थे। संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति मेकिन्ले ने फिलीपीन्स पर कब्ज़ा करने के कारण इन शब्दों में सामने रखे : "वहाँ करने के लिए और कुछ नहीं बचा था, सिवाय इसके कि इन सबको हम अपने अधिकार में ले लें, फिलीपीनियों को शिक्षित करें, उनका उत्थान करें, उन्हें अपने साथी मनुष्यों की तरह सभ्य और ईसाई बनाएँ जिनके लिए ईसा ने भी अपने प्राण दिये थे।"

खोजियों, दुस्साहसियों और धर्मप्रचारकों ने भी साम्राज्यवाद के प्रसार में सहायता दी। वे अज्ञात या कम ज्ञात क्षेत्रों में जाते तथा ऐसी रिपोर्ट लेकर आते जिसमें

व्यापार और विकास के अवसर के संकेत अक्सर मौजूद होते। इन रिपोर्टों के आधार पर वहाँ पहले एक व्यापारिक ठिकाना बनाया जाता और फिर उस खोजी के देश की सरकार उस व्यापारिक ठिकाने के इर्द-गिर्द के पूरे क्षेत्र को धीरे-धीरे अपने 'संरक्षण' में लेने के उपाय करती। फिर वह सरकार और आगे बढ़कर उस पूरे क्षेत्र का दावा करती। खोजियों और दुस्साहसियों का काम अफ्रीका पर यूरोप के कब्जे के लिए खासतौर पर महत्वपूर्ण रहा।

एशिया और अफ्रीका में साम्राज्यवाद के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ

एशिया तथा अफ्रीका पर साम्राज्यवादी विजय का सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि दुनिया के इस भाग में औद्योगिक क्रांति नहीं हुई थी। यहाँ के दस्तकार उत्तम कोटि का माल बनाते जिसकी पश्चिमी देशों के लोग प्रशंसा करते और उसे ख़रीदने को लालाइत रहते थे परंतु उनका सहारा हाथ के औजार ही थे, जिससे छोटे पैमाने पर उत्पादन संभव था।19 वीं सदी में पश्चिमी देशों के उत्पादन की तुलना में एशिया और अफ्रीका की कार्यविधियाँ पिछड़ी हुई थीं। इसके अलावा औद्योगिक क्रांति से पश्चिमी देशों को जो ज्ञान प्राप्त हुआ था उसके अभाव में ये दोनों महाद्वीप सैनिक रूप से कमज़ोर थे तथा यूरोप की सामरिक ताकत के सामने नहीं ठहर सकते थे।

19 वीं सदी में एशियाई और अफ्रीकी देशों की सरकारें बहुत कमज़ोर थीं। यहाँ प्राचीन काल तथा मध्यकाल में शक्तिशाली साम्राज्य हुआ करते थे। एशियाई और अफ्रीकी सभ्यताओं का पश्चिमी दुनिया के विकास में भी योगदान रहा है। परंतु 19 वीं सदी में भी यहाँ शासन के वही पुराने तरीके प्रचलित थे हालाँकि उनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी थी। इन देशों में आधुनिक अर्थों मे मज़बूत राष्ट्र-राज्यों का उदय नहीं हुआ था। सामंती युग की तरह यहाँ जनता की वफ़ादारी स्थानीय राजाओं के प्रति या कबीलाई सरदारों के प्रति थी। इन शासकों को जनता के कल्याण की शायद ही कोई चिंता थी। इन परिस्थितियों से ही समझा जा सकता है कि किस तरह पश्चिमवासियों के छोटे-छोटे समूह शक्ति प्राप्त करने तथा अंततः अपनी सरकारों के समर्थन से पूरे-पूरे देश को जीतने में सफल रहे।

एशिया की विजय

भारत में अंग्रेज़ों का आगमन

भारत में मुग़ल साम्राज्य के पतन ने उन अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों को भारत-विजय का अवसर दिया जो यहाँ व्यापार करने आए थे। 1600 में स्थापित अंग्रेज ईस्ट इंडिया कंपनी 1763 में फ्रांसीसियों के साथ टकराव में विजयी हुई। बंगाल से आरंभ होकर लगभग पूरा देश ही अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकार में आ गया। 1857 के विद्रोह के बाद इंग्लैंड की सरकार ने भारत का शासन खुद संभाल लिया। अनेक रजवाड़े बने रहे। वे कहने को तो स्वतंत्र थे परंतु वास्तव में स्वतंत्र नहीं थे। भारत पर अंग्रेज़ों की विजय पूरी हो गई थी।

अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कंपनी तथा फ्रांसीसी कंपनी के टकराव का उद्देश्य व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करना था। अंग्रेज़ी कंपनी का नियंत्रण स्थापित होने के बाद देश के विशाल संसाधन उसके कब्ज़े में आ गए। अब भारतीय माल की ख़रीद के लिए इंग्लैंड से पैसा लाना आवश्यक न था। भारत में अंग्रेज़ों की विजय से प्राप्त धन से ही इनको ख़रीदकर इंग्लैंड और यूरोप में बेचा जा सकता था। कंपनी के अधिकारियों ने भी बहुत पैसा बनाया। भारत को ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे चमकदार हीरा कहा जाता था। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के आरंभ के बाद इस देश में ब्रिटिश माल का आना आरंभ हो गया। इससे भारतीय दस्तकारों के उद्योग बर्बाद हो गए। मुनाफ़े तथा ब्रिटिश सरकार को दिए जाने वाले खिराज के रूप में भारत से लाखों पौंड की रकम इंग्लैंड ले जाई गई। भारत के हित अधिकाधिक ब्रिटिश हितों के अधीन बनाए गए। 1877 में ब्रिटेन की साम्राज्ञी ने "भारत की साम्राज्ञी" की उपाधि ग्रहण की जो पहले मुग़ल सम्राटों की उपाधि थी।

अंग्रेज़ों की विजय के कारण भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन में अनेक परिवर्तन आए। ब्रिटिश माल के लिए भारतीय बाजार को फैलाने तथा भारत के प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करने के लिए बड़े पैमाने पर रेलें बिछाई गईं। ब्रिटिश शासकों ने अपने बागान मालिकों को ख़ास विशेषाधिकार दिए और बहुत कम समय में चाय, काफ़ी और नील के अनेक बागान खड़े हो गए। 1883 में सारे
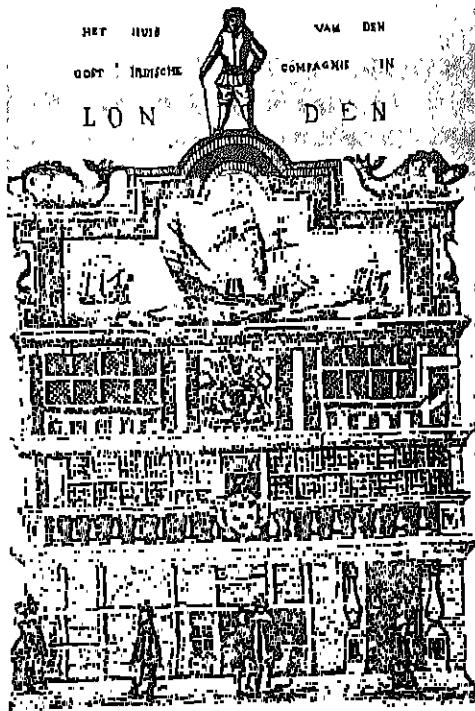
ईस्ट इंडिया हाउस, लंदन में ईस्ट इंडिया कंपनी का मुख्यालय

आयात और निर्यात शुल्क हटा दिए गए। भारत के मानवीय और भौतिक दोनों प्रकार के संसाधनों का उपयोग चीन, मध्य एशिया और अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हितों को पूरा करने के लिए किया गया। अंग्रेज़ों ने भारतीय जनता का विरोध समाप्त करने के लिए जनमत की अभिव्यक्ति को नष्ट करने वाले कानून बनाए। उन्होंने सरकार के महत्वपूर्ण पदों से भारतियों को बाहर रखा और दूसरी संस्थाओं तथा सार्वजनिक जीवन में भी उनके साथ भेदभाव किया।

चीन में साम्राज्यवाद

चीन में साम्राज्यवादी प्रभुत्व का आरंभ तथाकथित अफ़ीम युद्धों से हुआ। इन युद्धों से पहले केवल दो बंदरगाह विदेशी व्यापारियों के लिए खुले थे। ब्रिटिश व्यापारी चीन से चाय, रेशम तथा दूसरी वस्तुएँ ख़रीदते थे। ब्रिटिश व्यापारियों ने बड़े पैमाने पर चीन में अफ़ीम की तस्करी आरंभ कर दी। अफ़ीम का यह गैरकानूनी व्यापार ब्रिटिश व्यापारियों के लिए बहुत लाभदायी था, पर इससे चीनियों की बहुत शारीरिक और नैतिक हानि हुई। 1839 में चीन सरकार के एक अधिकारी ने जब अफ़ीम की एक खेप पकड़कर उसे नष्ट कर दिया तो ब्रिटेन ने युद्ध की घोषणा कर दी और आसानी से चीनियों को हरा दिया। तब चीनियों को मजबूर किया गया कि वे अंग्रेज़ों को भारी हर्जाने दें और अपने पाँच बंदरगाह पर स्थित नगर ब्रिटिश व्यापारियों के लिए खोल दें। चीन की सरकार ने यह बात भी मान ली कि भविष्य में इन बंदरगाहों के ब्रिटिश नागरिकों पर कोई भी मुकदमा चीन की नहीं, बल्कि इंग्लैंड की अदालतों में चलाया जाएगा। इस व्यवस्था को क्षेत्रेत्तर अधिकार (एक्स्ट्रा-टेरिटोरियल राइट्स) कहा गया जिसकी नकल दूसरे पश्चिमी देशों ने भी की। चीन की सरकार अब विदेशी वस्तुओं पर शुल्क लगाने को भी स्वतंत्र न थी। हांगकांग का द्वीप ब्रिटेन को दे दिया गया।

फ्रांस ने भी जल्द ही ऐसी असमान संधियाँ चीन पर लाद दीं। एक फ्रांसीसी मिशनरी की हत्या का बहाना लेकर इंग्लैंड और फ्रांस ने चीन से एक और युद्ध किया। चीन की हार हुई और उसे विजेताओं को और भी विशेषाधिकार देने पड़े।

चीन में साम्राज्यवाद के प्रसार का दूसरा महत्वपूर्ण चरण जापान के साथ चीन के युद्ध के बाद आरंभ हुआ। यह युद्ध तब हुआ जब जापान ने अपना प्रभाव कोरिया पर बढ़ाना चाहा जोकि चीन के आधिपत्य (ओवरलार्डशिप) में था। चीन ने इसका विरोध किया। दोनों देशों में युद्ध छिड़ गया और अंत में जापान विजयी रहा। चीन ने कोरिया को स्वाधीनता दे दी तथा फारमोसा और दूसरे द्वीप जापान के हवाले कर दिए। उसे जापान को भारी हर्जाने भी देने पड़े जो लगभग 15 करोड़ डालर के बराबर थे।

इस रकम की अदायगी के लिए फ्रांस, रूस, ब्रिटेन और जर्मनी ने चीन को कर्ज़ दिए। मगर यह अकारण न था। अब इन पश्चिमी देशों ने चीन को अनेकों प्रभाव-क्षेत्रों में
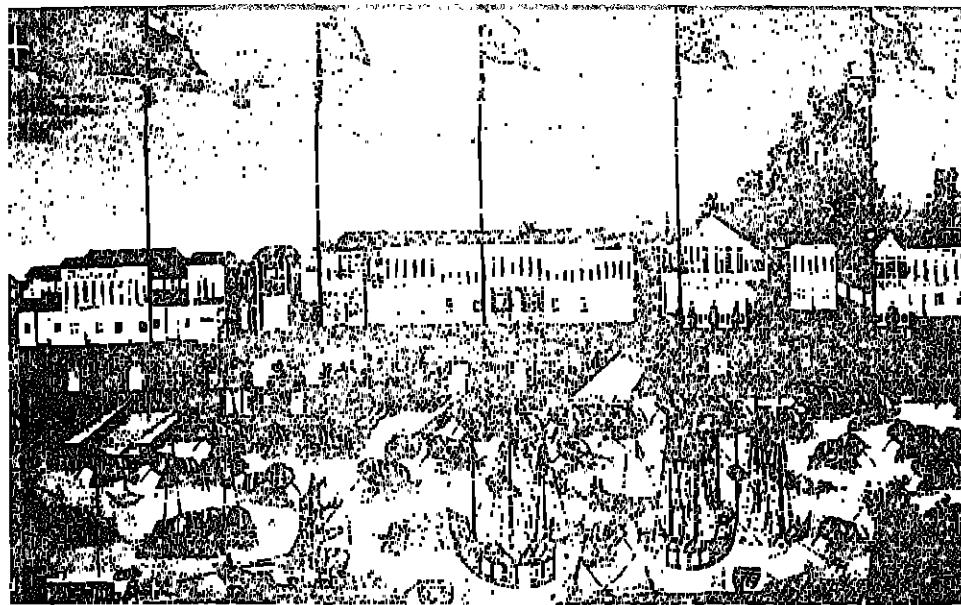
कैंटन का बंदरगाह, चीन के साथ यूरोप के व्यापारियों के लिए व्यापार करने को जिसे खोला गया था। चीनी अधिकारियों ने जिन देशों को व्यापार की अनुमति दी थी, उनके झण्डे प्रदर्शित किए गए हैं।

बाँट लिया। इसका अर्थ यह था कि चीन के अलग-अलग क्षेत्र इन देशों के अकेले शोषण के लिए सुरक्षित थे। उदाहरण के लिए किसी देश को अधिकार था कि वह अपने प्रभाव क्षेत्र में रेलें बिछाए या खदानों का दोहन करे। जर्मनी को क्याउचाऊ की खाड़ी मिली तथा शांतुंग और ह्वांगहो घाटी का एकमात्र अधिकार मिला। रूस ने लियाओतुंग प्रायद्वीप ले लिया तथा मंचूरिया में रेलें बिछाने का अधिकार भी लिया। फ्रांस को क्वांगचाओ की खाड़ी मिली तथा चीन के तीन दक्षिणी प्रांतों के एकमात्र अधिकार मिले। ब्रिटेन को यांग्त्से घाटी के प्रभाव क्षेत्र के अलावा वेई-हाई-वेई मिला।

संयुक्त राज्य अमरीका को डर था कि चीन पूरी तरह अनेक सुरक्षित प्रभाव-क्षेत्रों में बँट जाएगा और उसका चीन के साथ व्यापार ठप हो जाएगा। इसलिए संयुक्त राज्य ने "खुले दरवाजे" के नाम से प्रसिद्ध नीति का सुझाव दिया। इस नीति को "मुझे भी" की नीति कहा जाता है। इस नीति के अनुसार सभी देशों को चीन में कहीं भी व्यापार करने के समान अधिकार होने चाहिए।

ब्रिटेन ने संयुक्त राज्य का समर्थन यह सोचकर किया कि इससे जापान और रूस द्वारा चीन पर कब्जे को हतोत्साहित किया जा सकेगा। यही दो देश ऐसे थे जो चीन के अंदरूनी भागों में सबसे आसानी से अपनी सेनाएँ भेज सकते थे।

चीन में विशेषाधिकारों की यह छीना-झपटी तब रुक गई जब विदेशी शक्तियों के खिलाफ़ एक विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इसे बाक्सर विद्रोह कहा जाता है, परंतु जीत विदेशी शक्तियों की हुई और उन्होंने चीन को सज़ा देने के लिए उस पर जुर्माने लगाए। चीनी क्षत्रपों (वॉरलाडज़्) के सहयोग से चीन में साम्राज्यवाद बना रहा। इन सैनिक कमांडरों ने विदेशी शक्तियों को और विशेषाधिकार देकर जो कर्ज़े लिए, उन्हीं से उन्हें शक्ति मिली। हालाँकि चीन किसी साम्राज्यवादी देश का उपनिवेश नहीं रहा और उस
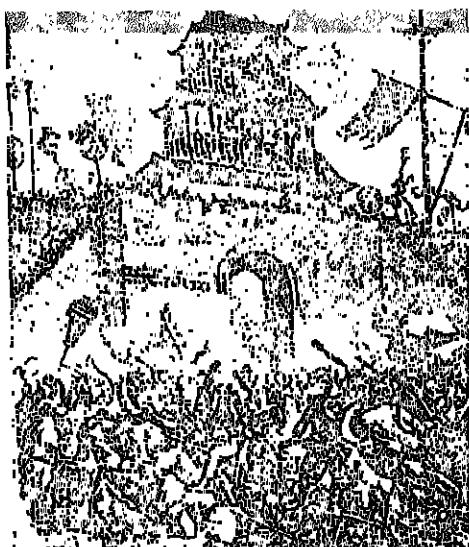
अक्टूबर 1860 में ब्रिटिश और फ्रांसीसी फौजें बीजिंग में घुसीं और उस पर अधिकार कर लिया।

पर किसी का कब्जा नहीं रहा, फिर भी चीन में इन घटनाओं के प्रभाव औपनिवेशिक क्षेत्रों के समान ही रहे। कुछ ही दशकों में चीन वास्तव में एक अंतर्राष्ट्रीय उपनिवेश बनकर रहा गया।

चीन का अनेक प्रभाव-क्षेत्रों में यह बँटवारा अक्सर "चीनी खरबूज़े का काटना" कहा जाता है ।

दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में साम्राज्यवाद

नेपाल, म्यांमार (बर्मा), मलाया, इंडोनेशिया, हिंदचीन, थाईलैंड और फिलीपीन्स दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के देश हैं। नव साम्राज्यवाद के उदय के पहले भी इनमें से अनेक देश यूरोपियों के अधीन थे। श्रीलंका पर पहले पुर्तगालियों का, फिर डचों का और अंत में अंग्रेज़ों का कब्ज़ा हुआ। यहाँ इंग्लैंड ने चाय और रबर के बागान लगाए जो श्रीलंका के कुल निर्यात का 7/8 भाग बन गए। डच अंग्रेज़ों के हाथों मलाया को हार बैठे। इसमें मलय प्रायद्वीप के छोर पर स्थित सिंगापुर भी शामिल था। मलाया और सिंगापुर की विजय का अर्थ था मलक्का जलडमरूमध्य के रास्ते सुदूर पूर्व से होने वाले व्यापार पर पूरा नियंत्रण । इंडोनेशिया तथा आस-पास के द्वीप डच नियंत्रण में थे। 1875 के बाद हालैंड ने मलुक्कास नामक द्वीपसमूह पर भी नियंत्रण कर लिया।

दक्षिण-पूर्व एशिया के उस भाग में जो हिंदचीन कहलाता था, लाओस, कंबोडिया और वियतनाम आते हैं। जब इंग्लैंड अफ़ीम के व्यापार को लेकर चीन से लड़ रहा था, फ्रांस हिंदचीन में अपना व्यापार बढ़ाने के प्रयास कर रहा था। अनेक योजनाबद्ध उपायों के द्वारा, जिनमें युद्ध की धमकी भी शामिल थी, फ्रांस हिंदचीन का स्वामी बन बैठा तथा तीनों अलग-अलग राज्य एक ही फ्रांसीसी गवर्नर-जरनल के अधीन कर लिए गए। फिर फ्रांस के ख़िलाफ़ बार-बार विद्रोह हुए जिन्हें दबा दिया गया या, फ्रांसीसियों के शब्दों में, "शांत" कर दिया गया।

1880 में बर्मा के राजा ने फ्रांस को टौंकिन से मांडले तक रेल-लाइन बिछाने का अधिकर दिया। फ्रांसीसी पूरे दक्षिण-पूर्व एशिया पर प्रभुत्व जमाने के प्रयास कर रहे थे। फ्रांस के प्रसार से डरकर ब्रिटिश सरकार ने बर्मा के साथ युद्ध छेड़ दिया। बर्मा का राजा पकड़ा गया और भारत भेज दिया गया। बर्मा को हड़पकर 1886 में ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य का अंग बना दिया गया।

थाईलैंड या स्याम फ्रांस द्वारा विजित हिंदचीन तथा ब्रिटेन द्वारा विजित बर्मा के बीच स्वतंत्र राज्य बना रहा। हालांकि थाइलैंड की स्वतंत्रता कायम रही, पर उसके मामलों पर फ्रांस और ब्रिटेन का बहुत दबदबा बना रहा।

19 वीं सदी के अंत में संयुक्त राज्य अमरीका भी दक्षिण-पूर्व एशिया में साम्राज्यवादी प्रसार की दौड़ में शामिल हो गया। स्पेनी शासन के ख़िलाफ़ कैरीबियन में क्यूबा के लोगों के विद्रोह के बाद संयुक्त राज्य और स्पेन के बीच युद्ध छिड़ गया। फिलीपीनियों ने स्पेनी शासन के ख़िलाफ़ विद्रोह किया और संयुक्त राज्य ने क्यूबा और फिलीपीन्स पर अधिकार कर लिया। फिलीपीनियों ने अमरीकी कब्ज़े के ख़िलाफ़ विद्रोह किया पर वे कुचल दिए गए और फिलीपीन्स अमरीका के अधिकर-क्षेत्र में आ गया। फिलीपीन्स के लिए संयुक्त राज्य ने स्पेन को 2 करोड़ डालर अदा किया।
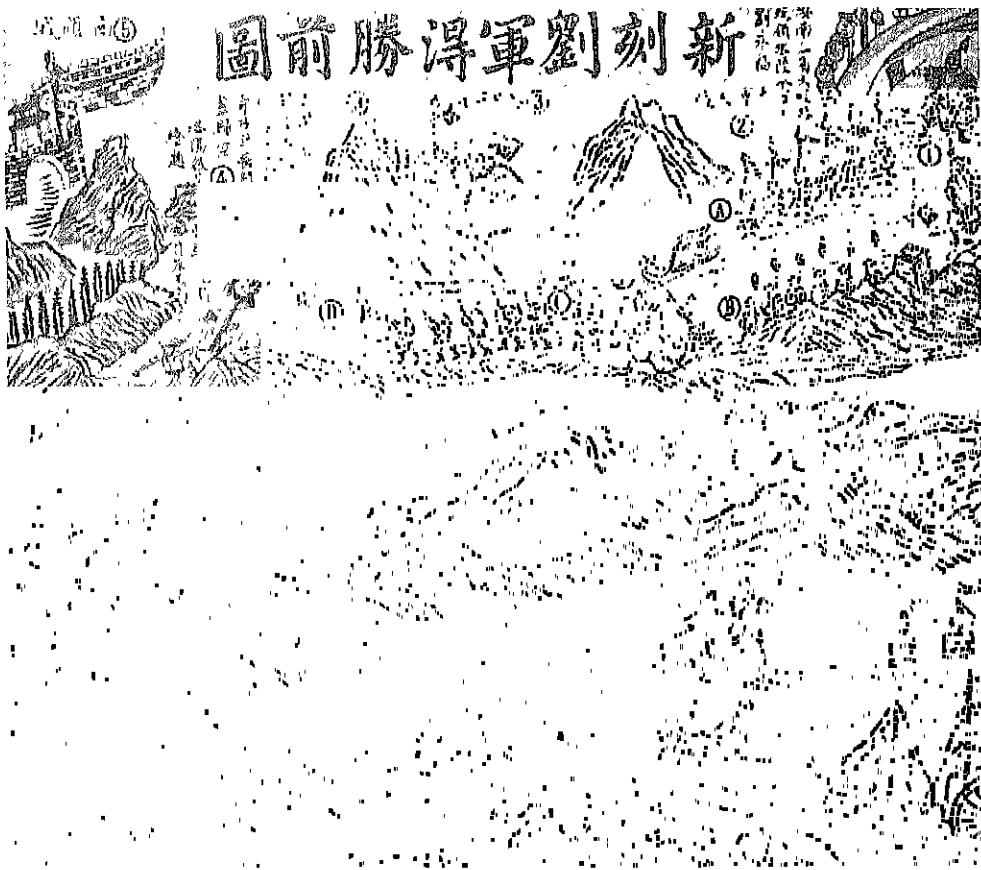
1884 में हिंदचीन में "सॉन ते" के आक्रमण को दर्शाने वाली एक समकालीन चीनी तस्वीर

मध्य और पश्चिमी एशिया में साम्राज्यवाद

मध्य एशिया, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और तिब्बत पर कब्ज़े के लिए मुकाबला इंग्लैंड और रूस में था। 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में रूस लगभग पूरे मध्य एशिया पर कब्ज़ा करने में सफल हो गया था। ईरान और अफ़ग़ानिस्तान को लेकर इंग्लैंड और रूस का टकराव चरम सीमा पर पहुँच गया।

इन देशों में ब्रिटेन के कुछ छोटे-मोटे आर्थिक हित थे, पर इसके अलावा ब्रिटेन की मुख्य चिंता थी — मध्य एशिया में रूस के प्रसार से अपने भारतीय साम्राज्य की रक्षा करना। आर्थिक नियंत्रण कायम करने के लिए इंग्लैंड और
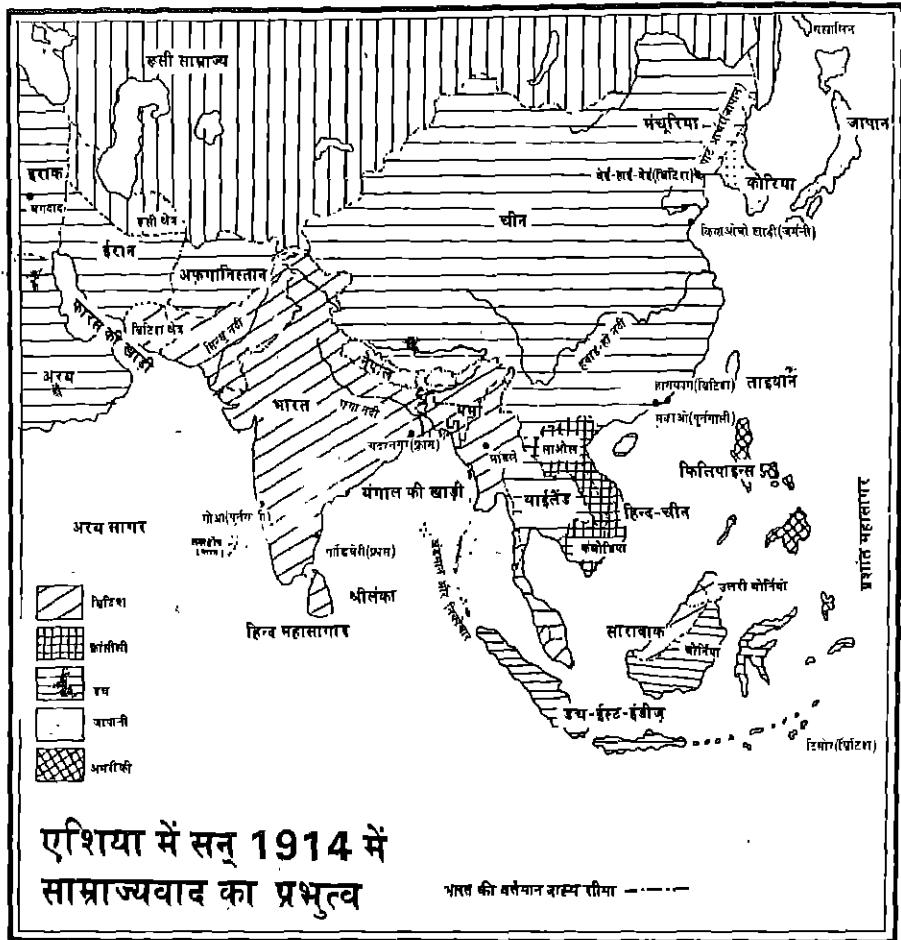
समुद्र में भारत का जल प्रदेश, उपयुक्त आधार रेखा से मापे गये बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
मानचित्रों के आंतरिक विवरणों को सही दर्शाने का दायित्व प्रकाशक का है।

रूस ने ईरान में बैंक खोले। 1907 में इंग्लैंड और रूस में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार दक्षिणी ईरान, ब्रिटेन और उत्तरी ईरान रूस के प्रभाव-क्षेत्र बन गए। ईरान का मध्य भाग किसी एक के प्रभाव क्षेत्र में नहीं था तथा दोनों के लिए खुला रहा।

इस बीच अफ़गानिस्तान तथा तिब्बत पर अधिकार के लिए इंग्लैंड और रूस का संघर्ष जारी रहा। अंततः 1907 में दोनों में एक समझौता इन दो देशों तथा ईरान को लेकर हुआ। दोनों शक्तियों ने तिब्बत में हस्तक्षेप न करने की बात मानी। रूस ने अफ़गानिस्तान को अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर मान लिया तथा ब्रिटेन ने यह माना कि जब तक अफ़गानिस्तान का शासक उसके प्रति निष्ठावान रहेगा, वह अफ़गानिस्तान का अधिग्रहण नहीं करेगा। तीन क्षेत्रों में ईरान के बँटवारे का ज़िक्र ऊपर आ चुका है। इसका अर्थ यह है कि ईरान पर इंग्लैंड और रूस की संयुक्त श्रेष्ठता स्थापित हो गई। 1917 में रूस की क्रांति के बाद नई सोवियत सरकार ने इस पुराने समझौते की निंदा की तथा ईरान में अपने सारे अधिकार छोड़ दिए मगर ईरान पर ब्रिटिश

सेना ने कब्ज़ा कर लिया।

इस बीच ईरान में कच्चे तेल का पता चला तथा ब्रिटेन और अमरीका की तेल कंपनियों की प्रभाव शक्ति ईरान में बढ़ी। ईरान कहने को स्वतंत्र रहा पर उसके ऊपर अमरीका की स्टैंडर्ड आयल कंपनी तथा इंग्लैड की ऐंग्लो- पर्शियन आयल कंपनी जैसी कंपनियों का दबदबा बराबर बढ़ता गया। 1911 में चीन में राजतंत्र की समाप्ति के बाद तिब्बत पर ब्रिटेन का प्रभाव भी बढ़ता गया।

इस पूरे काल में तुर्की तथा तुर्की साम्राज्य के एशियाई अधिकार-क्षेत्रों पर जर्मनी अपना प्रभाव बढ़ाता रहा। एक जर्मन कंपनी ने कुस्तुंतुनिया से बग़दाद और फ़ारस की खाड़ी तक रेल-लाइन बिछाने के अधिकार हासिल कर लिए। जर्मनी को आशा थी कि इस रेल-लाइन के सहारे वह इस क्षेत्र में तथा ईरान और भारत तक अपने आर्थिक हितों को बढ़ा सकेगा। फ़्रांस, रूस तथा ब्रिटेन ने इसका विरोध किया, परंतु इस पूरे क्षेत्र के बँटवारे का समझौता जर्मनी, फ़्रांस और इंग्लैंड के बीच हुआ। मगर प्रथम विश्वयुद्ध के छिड़ने पर स्थिति बदल गई। जर्मनी और तुर्की युद्ध में एक-दूसरे के सहयोगी थे, उनकी हार हुई। सीरिया, फिलिस्तीन, मेसोपोटामिया (इराक़) और अरब तुर्की से छिन गए और इंग्लैंड तथा फ़्रांस के नियंत्रण में आ गए। इस तरह एशिया और दुनिया के दूसरे देशों से साम्राज्यवादी राष्ट्र के रूप में जर्मनी का सफ़ाया हो गया। जल्द ही तेल तथा तेल-संसाधनों पर नियंत्रण के अधिकार पाना पश्चिमी एशिया में साम्राज्यवादी देशों के प्रमुख लक्ष्य बन गए। ब्रिटेन और फ़्रांस के साथ भागीदारी करके अमरीकी तेल कंपनियों ने अरब में तेल संबंधी अधिकार पा लिए।

साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में जापान

जापान ने अपना साम्राज्यवादी प्रसार 19 वीं सदी के अंतिम दशक में आरंभ किया। अपने पाँव जमाने की कोशिश पश्चिमी देशों ने जापान में भी की थी। 1853 में कमोडोर पेरी के नेतृत्व में अमरीकी जंगी जहाज़ों ने बल प्रयोग करके जापान को अमरीकी जहाज़रानी और व्यापार की छूट देने के लिए बाध्य कर दिया था। इसके बाद जापान के साथ ऐसे ही समझौते ब्रिटेन, हालैंड, फ़्रांस और रूस ने किए। फिर भी दूसरे एशियाई देशों के अनुभव से जापान बचा रहा। 1867 में मेजी-पुनर्स्थापना के नाम से प्रख्यात सरकार-परिवर्तन के बाद जापान ने अपनी अर्थव्यवस्था को आधुनिक बनाना आरंभ कर दिया। कुछ ही दशकों में वह दुनिया के प्रमुख औद्योगिक देशों में से एक हो गया। लेकिन वह शक्तियाँ जिन्होंने अनेक पश्चिमी देशों को साम्राज्यवादी बनाया, जापान में भी सक्रिय थीं। जापान के पास अपने उद्योगों के लिए कच्चा माल बहुत कम था इसलिए उसकी निगाहें उन देशों पर पड़ी जहाँ माल उपलब्ध था तथा जो उसके कारख़ानों में तैयार माल की बिक्री के लिए बाज़ार भी मुहैया कर सकते थे।

जापान के साम्राज्यवादी मंसूबों के लिए चीन में पर्याप्त अवसर थे। 1894 में कोरिया के सवाल पर जापान और चीन के युद्ध के बारे में आप पहले पढ़ चुके हैं। इसके बाद चीन में जापान का प्रभाव बढ़ गया। 1902 की आंग्ल-जापानी संधि में उसे बड़ी यूरोपीय शक्तियों के बराबर के दर्जे की शक्ति मान लिया गया। 1904-1905 में उसने रूस को हराया। इस युद्ध के फलस्वरूप सखालिन का दक्षिणी भाग जापान को मिल गया। लियाओतुंग प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग पर भी जापान का नियंत्रण हो गया और पोर्ट आर्थर उसे किराए पर मिल गया। 1910 में कोरिया जापान का उपनिवेश बन गया। 1914 में जब प्रथम विश्वयुद्ध आरंभ हुआ, तब जापान अपने पिछले पचास वर्षों के कारनामों पर गर्व करने की स्थिति में था। वह एक बड़ी शक्ति बन चुका था और अगर केवल पश्चिमी शक्तियाँ उसे ऐसा करने की छूट देतीं तो वह चीन में अपना और भी प्रसार कर सकता था।

साम्राज्यवादी देश के रूप में जापान के कारनामे पश्चिमी साम्राज्यवादियों के मुकाबले में बदतर ही थे। वास्तव में जापान की गतिविधियों से साबित होता है कि साम्राज्यवाद किसी एक जनगण या क्षेत्र की ही विशेषता नहीं थी बल्कि वह आर्थिक और राजनीतिक शक्ति की भूख का नतीजा था और अपनी नस्ल या सांस्कृतिक दावों के बावजूद किसी भी देश की नीति को विकृत कर सकता था।

संक्षेप में 20 वीं सदी के आरंभिक वर्षों तक लगभग पूरा एशिया साम्राज्यवादी देशों के कब्ज़े में आ चुका था।

अफ्रीका में साम्राज्यवाद

अफ्रीका के विभिन्न भागों में सभ्यता के उदय तथा राज्यों और साम्राज्यों का निर्माण काफी समय से हो रहा था। अफ्रीकी सभ्यताओं और संस्कृतियों के शेष दुनिया से प्राचीन काल से ही संपर्क थे। 15 वीं सदी के उत्तरार्ध में यूरोपीय खोजों के साथ अफ्रीका के कुछ भागों के इतिहास में एक नया चरण आरंभ हुआ। अफ्रीका के कुछ भागों के साथ व्यापारिक संबंधों की स्थापना के अलावा गुलामों का व्यापार भी इस काल की विशेषता थी। 19 वीं सदी के अंतिम दशकों तक अफ्रीकी महाद्वीप के केवल पाँचवें भाग पर यूरोप का नियंत्रण था। मगर कुछ ही वर्षों के अंदर लगभग पूरा महाद्वीप यूरोप के विभिन्न साम्राज्यवादी देशों के बीच बँट गया, हालाँकि उन्हें वास्तविक और प्रभावी अधिकार स्थापित करने में बहुत अधिक समय लगा।
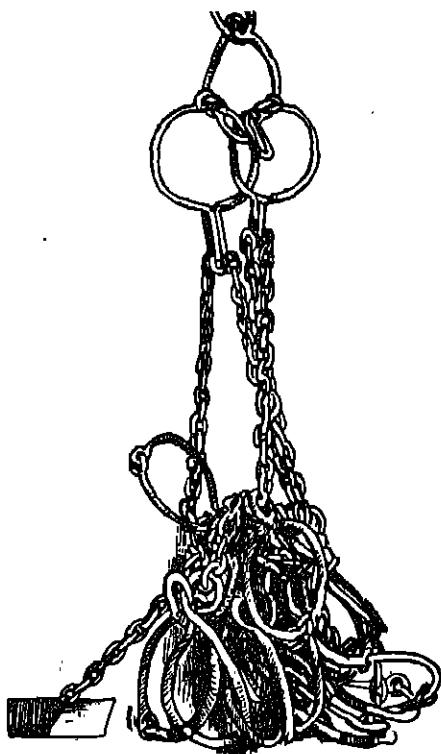
दास ज़ंजीरें

दास-व्यापार

15 वीं सदी के अंतिम वर्षों के बाद एक लंबे समय तक अफ्रीका में यूरोप की घुस-पैठ मुख्यतः कुछ तटीय भागों तक सीमित रही। मगर अफ्रीका की जनता के लिए इन सीमित संपर्कों के भी अत्यंत दुःखद और घातक परिणाम हुए। इन संपर्कों का आरंभिक परिणाम लोगों की ख़रीद-बिक्री अर्थात दास-व्यापार था। अमरीकी महाद्वीपों में स्पेनी शासन की स्थापना के बाद वहाँ के मूल निवासियों को बड़े पैमाने पर मार डाला गया था। लिस्बन में पुर्तगाली एक दास-बाज़ार बना चुके थे और स्पेनी वहाँ से गुलाम ख़रीदकर काम कराने के लिए अमरीकी महाद्वीपों में ले जाते थे। दासों के व्यापारी अफ्रीकी गाँवों पर हमला करते, लोगों को पकड़ते और यूरोपीय व्यापारियों के हवाले कर देते। पहले दास-व्यापार पर अरबों का प्रभुत्व था। बाद में कुछ अफ्रीकी सरदार भी दास-व्यापार में शामिल होने लगे। वे यूरोपियों को बंदूकों के बदले गुलाम बेचते थे। यूरोपीय स्वयं भी गाँवों पर हमला करके लोगों को गुलाम बनाते और उन्हें समुद्र पार भेजते। जब अमरीका में गुलामों की माँग बढ़ गई तो व्यापारी अफ्रीका से सीधे वहाँ गुलाम भेजने लगे।

अफ्रीकी दासों का यह व्यापार पुर्तगालियों ने शुरू किया था। जल्द ही इस पर अंग्रेज़ों ने कब्ज़ा कर लिया। 1562 में एक धनी अंग्रेज़ व्यापारी सर जॉन हाकिंस जो बहुत धार्मिक व्यक्ति माना जाता था, 'जीसस' नामक जहाज़ लेकर दास लाने के लिए अपनी पहली अफ्रीकी-यात्रा पर गया। हाकिंस द्वारा लाए गए दासों की बिक्री से प्राप्त मुनाफ़े में इंग्लैंड की तत्कालीन महारानी एलिज़ाबेथ प्रथम को भी हिस्सा मिला था। 17 वीं सदी में एक नियमित कंपनी को इंग्लैंड के सम्राट ने दास-व्यापार के लिए चार्टर दिया। बाद में स्पेन ने दास-व्यापार पर अपना एकाधिकार और अमरीका में अपने अधिकार-क्षेत्र से होने वाले दास-व्यापार का अधिकार इंग्लैंड को दे दिया। दास-व्यापार से प्राप्त मुनाफ़े में इंग्लैंड के राजा का 25 प्रतिशत भाग निश्चित था।

यह व्यापार 19 वीं सदी के लगभग मध्य तक जारी रहा। लाखों अफ्रीकी अपने घर-बार से दूर कर दिए गए। अनेकों अपने गाँवों पर व्यापारियों के हमलों का विरोध करते हुए मारे गए। जहाज़ों में उनको बेजान वस्तु समझकर ऐसी अस्वस्थकर दशा मे ले जाया जाता था कि जहाज़ों के नाविक प्रायः विद्रोह कर बैठते थे। लंबी यात्रा में लाखों अफ्रीकी मर गए। अनुमान है कि पकड़े गए कुल अफ्रीकी दासों में आधे भी अमरीका तक नहीं पहुँचते थे। बागानों में जिस अमानवीय दशा में उनसे जबरन काम लिया जाता था उसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। भागने की कोशिश करने वालों को अत्यंत निर्मम यातनाएँ दी जाती

नीलामी द्वारा दासों को बेचा जा रहा है।

थी। किसी भगोड़े दास को मारने वाले को सरकार की ओर से इनाम दिया जाता था। दास-प्रथा इस काल में यूरोपीय देशों द्वारा स्थापित औपनिवेशिक प्रणाली का अभिन्न अंग बन चुकी थी।

19 वीं सदी के आरंभ तक औपनिवेशिक शोषण की प्रणाली के लिए दास-व्यापार का महत्व समाप्त हो चुका था। अफ्रीका के अंदरूनी भागों को औपनिवेशिक शोषण के दायरे में लाने में दास-प्रथा बाधक भी थी। वास्तव में कुछ औपनिवेशिक शक्तियों ने अपने इलाके बढ़ाने के लिए दास-प्रथा के उन्मूलन का बहाना लेकर अफ्रीकी सरदारों और राजाओं के ख़िलाफ़ युद्ध भी छेड़े। इस बीच अफ्रीका में अंदरूनी क्षेत्रों का खोज कार्य आरंभ हो चुका था और यूरोपीय शक्तियाँ अफ्रीकी महाद्वीप पर एक और ढंग की दासता लादने, अर्थात लगभग पूरे महाद्वीप को विजय करने की तैयारियाँ कर रही थीं।

अफ्रीका के लिए छीना-झपटी

अफ्रीका के अंदरूनी भाग 19 वीं सदी के लगभग मध्य तक यूरोपियों के लिए प्रायः अज्ञात थे। तटीय क्षेत्र मुख्यतः पुर्तगाली, डच , अंग्रेज़ और फ्रांसीसी आदि पुराने व्यापारी राष्ट्रों के हाथों में थे। यहाँ उन्होंने अपने किले बनाए थे। केवल दो जगहें ऐसी थीं जहाँ अंदरूनी भागों में दूर तक यूरोपीय शासन की पैठ थी। उत्तर में फ्रांसीसियों ने अल्जीरिया पर कब्ज़ा कर लिया था। भारत के साथ अपने व्यापार की सुरक्षा के लिए दक्षिण में अंग्रेज़ों ने केप कॉलोनी पर कब्ज़ा कर लिया। यह पहले एक डच उपनिवेश था जहाँ अनेक यूरोपीय और मुख्यतः डच बस गए थे। इन्हें बोअर नाम से जाना जाता है। ये लोग खेती में लगे हुए थे। यह अफ्रीका का अकेला भाग था जहाँ बड़ी संख्या में यूरोपीय लोग बसे थे। परंतु कुछ ही वर्षों के अंदर उपनिवेशों के लिए छीना-झपटी आरंभ हो गई और लगभग पूरा महाद्वीप यूरोपीय शक्तियों के बीच टुकड़ों में बँट गया।

अफ्रीका की विजय में खोजियों, व्यापारियों और धर्मप्रचारकों ने अपनी-अपनी भूमिकाएँ निभाईं। खोजियों ने अफ्रीका के बारे में यूरोपियों की दिलचस्पी जगाई। धर्म प्रचारकों ने इस महाद्वीप को ईसाई मत के संदेश के प्रचार के लिए उपयुक्त स्थान समझा। खोजियों और धर्म प्रचारकों द्वारा पैदा किए गए प्रभाव का व्यापारियों ने जल्द ही उपयोग किया। पश्चिमी सरकारों ने सेनाएँ भेज कर इन सभी हितों को सहारा दिया। इस प्रकार विजय की भूमिका तैयार हो गई।

यूरोपीय शक्तियों को अफ्रीकियों के कड़े विरोध का सामना करना पड़ा और इन उपनिवेशों पर वास्तविक नियंत्रण स्थापित करने में उन्हें लंबा समय लगा फिर भी जिस तेज़ी से यूरोपीय शक्तियों ने इन देशों पर विजय पाई उसका उदाहरण नहीं मिलता। इसके कारणों को समझना आवश्यक है। इसके बाहरी कारणों का कुछ ज़िक्र हम इस

अध्याय के आरंभिक भागों में कर चुके है। साम्राज्यवादी शक्तियों की आर्थिक शक्ति अफ्रीकी राज्यों के आर्थिक संसाधनों से बहुत अधिक थी। इन राज्यों के पास लंबे समय तक लड़ने के लिए पर्याप्त साधन नहीं थे। सैनिक शक्ति की दृष्टि से साम्राज्यवादी देश अफ्रीकी राज्यों से बहुत अधिक शक्तिशाली थे। अफ्रीकियों के पास बंदूकें बहुत पुरानी थीं जो उन्हें यूरोपीय व्यापारियों ने बेची थीं। वे यूरोपियों द्वारा प्रयोग की जा रही नई राइफलों और बंदूकों का मुकाबला नहीं कर सकती थीं। इस श्रेष्ठता को दिखाने के लिए एक अंग्रेज़ कवि की ये पंक्तियाँ प्राय: उद्धृत की जाती हैं:

"हो कुछ भी हो पर है हमारे पास
मैक्सिम बंदूकें जो नहीं उनके पास।''

ये मैक्सिम बंदूकें तेज़ी से मार करने वाली बंदूकें थी जिनका उपयोग कुल्हाड़ों और छुरों से लड़ने वाले अफ्रीकियों के खिलाफ किया जाता था। राजनीतिक दृष्टि से 18 वीं सदी के भारतीय राज्यों की तरह अफ्रीकी राज्यों में भी एकता नहीं थी। राज्यों के बीच तथा एक ही राज्य के अंदर टकराव होते रहते थे और शासक तथा सरदार अपन विरोधियों के ख़िलाफ़ अक्सर यूरोपियों की सहायता माँगते रहते थे। इन टकरावों के फलस्वरूप अफ्रीकी राज्यों की सीमाएँ प्राय: बदलती रहती थीं। इसके विपरीत अफ्रीका की इस लूट-खसोट में शामिल साम्राज्यवादी देश एकजुट थे। इस लूट-खसोट के कारण उनके बीच कड़ी शत्रुता थी और हर यूरोपीय देश जितनी जल्दी अफ्रीका का जितना बड़ा हिस्सा संभव हो हथियाने की चिंता में लगा रहता था। अनेकों बार संकट चरम सीमा पर पहुँचा और लूट में शामिल इन देशों में युद्ध की नौबत आई। मगर हर बार वे युद्ध बचा जाते थे और आपस में इसका समझौता कर लेते थे कि अफ्रीका का कौन सा हिस्सा किसे मिलेगा। उदाहरण के लिए पूर्वी अफ्रीका में इंग्लैंड और जर्मनी की शत्रुता का फैसला 1890 में हो गया जब जर्मनी ने इंग्लैंड से हेलिगोलैंड लेकर उसे यूगांडा दे दिया। 1884-85 में बर्लिन में एक सम्मेलन हुआ जिसमें अनेक यूरोपीय राज्यों ने भाग लिया तथा इस पर विचार किया कि वे अफ्रीका को आपस में कैसे बाँटें। इस सम्मेलन में किसी भी अफ्रीकी राज्य का प्रतिनिधि नहीं था। अफ्रीका के क्षेत्रों पर दावों से संबंधित विवाद निपटाने के लिए यूरोपीय शक्तियों ने आपस में संधियाँ कीं। अफ्रीकी सरदारों और शासकों तथा यूरोपीय सरकारों या यूरोपीय कंपनियों के प्रतिनिधियों और व्यक्तियों के बीच भी संधियाँ हुईं जिन्हें बाद में संबंधित सरकारों ने मान्यता दी। ये संधियाँ अक्सर धोखा-धड़ी का नमूना होती थीं। जब ये संधियाँ वास्तविक भी होती थीं तो दूसरे यूरोपीय देशों के सामने उनका ग़लत वर्णन किया जाता था और उनकी ग़लत व्याख्याओं को दूसरे यूरोपीय देश मान्यता दे देते थे। उदाहरण के लिए अगर कोई अफ्रीकी शासक अपने किसी विरोधी के ख़िलाफ़ किसी यूरोपीय देश के साथ संधि करता तो वह यूरोपीय देश दूसरे यूरोपीय देशों की मान्यता पाने के लिए उस संधि की यह व्याख्या करता कि उस अफ्रीकी शासक ने अपने राज्य को उस यूरोपीय देश का "संरक्षित राज्य" (प्रोटेक्टरेट) बनाने के लिए हामी भर दी है। तब इस व्याख्या को दूसरी यूरोपीय शक्तियां स्वीकार कर लेतीं और फिर उनकी तरफ से किसी रोक-टोक के बिना उस राज्य पर कब्जा करने की प्रक्रिया आरंभ हो जाती। इस प्रकार 19 वीं सदी के अंत तक अफ्रीका का बँटवारा लगभग पूरा हो गया। इस स्थिति को आम तौर पर "काग़ज़ी विभाजन" कहा जाता है क्योंकि वास्तविक विभाजन में और भी लंबा समय लगा और इसमे अफ्रीकियों के विरोध को कुचलने के लिए यूरोपीय शक्तियों को अपनी श्रेष्ठतर सैनिक शक्ति का उपयोग करना पड़ा। विभाजन के बाद अफ्रीका के मानचित्र को देखने पर पता चल जाएगा कि यूरोप के कांफ्रेंस-कक्षों में किस प्रकार काग़ज़ पर अफ्रीका महाद्वीप का विभाजन किया गया। अफ्रीका की सीमाओं में लगभग 30 प्रतिशत सीमाएँ सीधी रेखा में हैं।

अगर हम यूरोपीय शक्तियों की अफ्रीका विजय का क्षेत्रों के अनुसार अध्ययन करें तो उसे समझना आसान हो जाएगा। पर याद रहे कि यह विजय उसी क्रम में नहीं हुई जिस क्रम में उसका वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

पश्चिमी और मध्य अफ्रीका

1878 में बेल्जियम के सम्राट लियोपोल्ड द्वितीय से वित्तीय सहायता पाकर एच. एम. स्टैनले ने इंटरनेशनल कांगो एसोसिएशन बनाई जिसने अफ्रीकी सरदारों के साथ 400

से अधिक संधियाँ कीं। अफ्रीकी सरदार यह नहीं जानते थे कि वे काग़ज़ के टुकड़ों पर अपने "चिह्न" लगाकर कपड़ों और ऐसी दूसरी वस्तुओं के बदले अपनी जमीन कांगो ऐसोसिएशन के हवाले कर रहे थे जिनका कोई अधिक मूल्य न था। इन तरीकों से स्टैनले ने बहुत बड़ी–बड़ी ज़मीनें हासिल कर लीं। 1885 में रबर और हाथी दांत से समृद्ध कोई 23 *लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र "स्वतंत्र कांगो राज्य"* बन गया जिसका शासक लियोपोल्ड था।

स्टैनले ने कांगो (आज का ज़ायरे) के कब्ज़े को "एक अनोखा मानवतावादी और राजनीतिक उद्यम" की संज्ञा दी, पर इसका आरंभ कांगो की जनता के निर्मम शोषण से हुआ। उन्हें रबर और हाथी–दाँत जमा करने को मजबूर किया जाता। कहते हैं कि अकेले लियोपोल्ड ने 2 करोड़ डालर से अधिक का मुनाफ़ा कमाया। कांगो की जनता के साथ इतना बुरा व्यवहार किया गया कि दूसरी औपनिवेशिक शक्तियाँ स्तंभित रह गईं। इस बर्बरता का उदाहरण देखिए – स्वतंत्र कांगो राज्य के सैनिकों ने आज्ञा न मानने वाले देहातियों के हाथ काट डाले और उन्हें यादगार के रूप में अपने साथ ले गए। 1908 में लियोपोल्ड को मजबूर किया गया कि वह स्वतंत्र कांगो राज्य को बेल्जियम की सरकार के हवाले कर दे। उसके बाद उसे बेल्जियन कांगो कहा जाने लगा।

कांगो के रबर और हाथी–दाँत के मुकाबले सोना, हीरे, यूरेनियम, इमारती लकड़ी और ताँबा धीरे–धीरे अधिक महत्वपूर्ण हो गए। इन संसाधनों के दोहन के लिए इंग्लैंड और संयुक्त राज्य समेत अनेक दूसरे देश भी बेल्जियम के साथ हो गए। कटांगा (आज का शबा) प्रांत के ताँबा–संसाधनों पर नियंत्रण करने वाली कंपनी दुनिया की सबसे बड़ी ताँबा कंपनियों में से एक थी। इस कंपनी ने, जिसके मालिक अंग्रेज़ और बेल्जियन थे, कांगो के राजनीतिक मामलों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

पश्चिमी *अफ्रीका की दूसरी सबसे बड़ी नदी नाइजर* है। नाइजर पर नियंत्रण का अर्थ है संसाधनों से भरपूर इस क्षेत्र का नियंत्रण। कभी अंग्रेज़ों ने अमरीका के बागानों के लिए दासों के निर्यात की ख़ातिर इस क्षेत्र, नाइजीरिया, के एक भाग पर कब्जा कर लिया था। नाइजीरिया की विजय में पहल एक ब्रिटिश कंपनी ने की। एक समय तक एक फ़्रांसीसी कंपनी से उसकी तीखी शत्रुता चलती रही पर अंत में ब्रिटिश कंपनी फ़्रांसीसियों को बाहर निकालकर नाइजीरिया का शासक बनने में सफल रही। कुछ वर्षों बाद ब्रिटिश सरकार ने नाइजीरिया को ब्रिटेन का संरक्षित राज्य (प्रोटेक्टरेट) घोषित कर दिया। *पश्चिमी अफ्रीका में गांबिया, अशांती, गोल्ड कोस्ट और* सियरा लियोन पर भी ब्रिटेन ने कब्ज़ा किया ।

स्टैनले जब कांगो में सम्राट लियोपोल्ड के लिए साम्राज्य खड़े कर रहा था, तब 'द ब्राज़्ज़ा' नामक एक फ़्रांसीसी कांगो नदी के उत्तर में सक्रिय था। स्टैनले की तरकीबें अपनाकर 'द ब्राज़्ज़ा' ने इस क्षेत्र को फ़्रांस के लिए हथिया लिया। यह क्षेत्र अभी हाल तक फ़्रेंच कांगो कहा जाता था और उसकी राजधानी का नाम द ब्राज़्ज़ा के नाम पर ब्राज़्ज़ा विल था। फ़्रांस अफ्रीका के पश्चिमी तट पर स्थित सेनेगल पर पहले ही कब्ज़ा कर चुका था। अब उसने पश्चिमी अफ्रीका में अपने साम्राज्य के विस्तार के प्रयास आरंभ कर दिए। जल्द ही उसके हाथ दहोमी (आज का बेनिन), आइवरी कोस्ट तथा फ़्रेंच गिनी भी लग गए। 1900 तक फ़्रांस का साम्राज्य
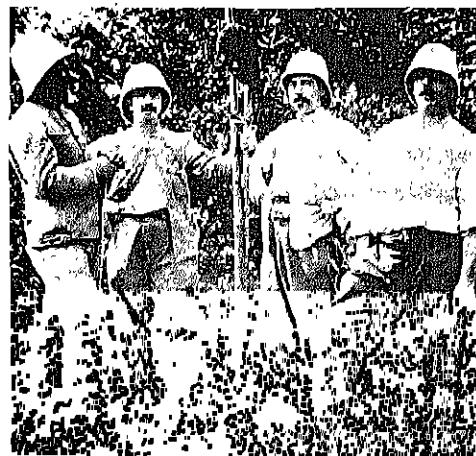
बीसवी सदी के आरंभिक वर्षों में आइवरी कोस्ट में फ़्रांसीसियों के अधिकार के प्रतिरोध को दबाने के दौरान फ़्रांसीसी सैनिक अफ्रीकियों को मारकर उनके सिर दिखा रहे हैं।

अफ्रीका के अंदरूनी भागों में और भी दूर तक फैल चुका था। 1900 के बाद पश्चिमी अफ्रीका के और भी क्षेत्रों पर उसे विजय मिली। अब फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका में सेनेगल, फ्रेंच गिनी, आइवरी कोस्ट, दहोमी, मारेतानिया, फ्रेंच-सूडान, अपर वोल्टा (आज का बुर्कीना फासो) और नाइजर टेरीटरी शामिल थे। फ्रांसीसियों की विजय के बाद अफ्रीका में जनता का हर जगह निर्मम शोषण आरंभ हो गया। उदाहरण के लिए, केवल 20 वर्षों में ही फ्रेंच कांगो की आबादी घटकर पहले की तुलना में एक तिहाई रह गई।

1880 के बाद अफ्रीका में इलाके जीतने में जर्मनी की दिलचस्पी भी जागी। पहले उसने पश्चिमी तट पर टोगोलैंड नामक इलाके पर कब्जा किया, फिर जल्द ही इसके कुछ दक्षिण स्थित कैमेरून पर, फिर इससे भी दक्षिण में दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका पर जर्मनी का कब्ज़ा हो गया। यहाँ स्थानीय विद्रोहियों को कुचलने के लिए आधी से अधिक जनता का सफाया कर दिया गया। पर इन विजयों से जर्मनी की तसल्ली नहीं हुई। वह अंगोला और मोज़ाम्बिक के पुर्तगाली उपनिवेशों तथा कांगो पर भी कब्ज़ा करना चाहता था। प्रथम विश्वयुद्ध के छिड़ने से पहले, इंग्लैंड तथा जर्मनी ने अंगोला और मोज़ाम्बिक को आपस में बाँटने का फैसला
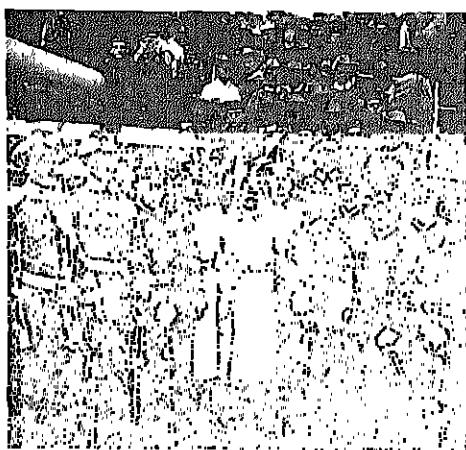
1904 में जर्मनी द्वारा दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका (नामीबिया) पर कब्ज़ा करने के खिलाफ़ विद्रोह भड़क उठा। जर्मन फौजें उस विद्रोह को कुचलने जा रही हैं।

किया, पर विश्वयुद्ध छिड़ने पर जर्मनी के सपने चूर-चूर हो गए। युद्ध के बाद जर्मन उपनिवेश विजेता शक्तियों को दे दिए गए। टोगोलैंड और कैमेरून फ्रांस और इंग्लैंड के बीच बंट गए और जर्मन दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका, दक्षिण अफ्रीका को दिया गया।

अफ्रीका के पश्चिमी तट पर स्पेन के केवल दो उपनिवेश थे-ये थे रियो द ओरो (स्पेनी सहारा) और स्पेनी गिनी। पुर्तगाल के पास अंगोला तथा पुर्तगाली गिनी जैसे समृद्ध क्षेत्र थे। इस तरह लाइबेरिया को छोड़कर पूरा पश्चिमी अफ्रीका यूरोपीय शक्तियों के बीच बँट चुका था। लाइबेरिया में वे दास बसे थे जो अमरीका में मुक्त कर दिए गए थे। हालाँकि यह देश स्वतंत्र था, पर उस पर प्रभाव संयुक्त राज्य का और खासकर रबर के बागानों में पूँजी लगाने वाले अमरीकियों का था।

दक्षिण अफ्रीका

दक्षिणी अफ्रीका में केप कॉलोनी डचों की बसाई हुई थी, पर 19 वीं सदी के आरंभ में वह अंग्रेज़ों के कब्ज़े में आ गई। फिर बोअर नाम से जाने जाने वाले डच बाशिंदे उत्तर की ओर चले गए और उन्होंने दो राज्यों, आरेंज फ्री स्टेट और ट्रांसवाल की स्थापना की । 1850 तक इन दोनों राज्यों पर बोअरों का शासन था। सीसल रोड्स नामक एक अंग्रेज़ दुस्साहसी 1870 में दक्षिण अफ्रीका आया। इस क्षेत्र के हीरे और सोने के व्यापार से उसने बहुत धन कमाया। उसके नाम पर अफ्रीका के एक उपनिवेश का नाम रोडेशिया पड़ा। (उत्तरी रोडेशिया अब स्वतंत्र है और जांबिया कहलाता है। दक्षिणी रोडेशिया जो आज का जिम्बाबवे है, अप्रैल 1980 में स्वतंत्र हुआ।) रोड्स आजकल "रोड्स छात्रवृत्ति" का आरंभ करने वाले एक महान दानी के रूप में प्रख्यात है, पर वह सबसे पहले एक मुनाफ़ाखोर और साम्राज्य-निर्माता था। उसका कहना था कि "शुद्ध दानी होना अपनी जगह बहुत अच्छी बात है पर दान के साथ पाँच प्रतिशत मुनाफ़ा हो, वह उससे और भी अच्छी बात है।" रोड्स का सपना पूरी दुनिया में ब्रिटिश साम्राज्य का प्रसार करना था और अफ्रीका में ब्रिटिश शासन को फैलाने में वह निश्चित ही सफल रहा। अंग्रेज़ों ने बेचुआनालैंड और रोडेशिया, स्वाज़ीलैंड और बसुतोलैंड पर कब्ज़ा कर लिया। उन्होंने

सोने के भंडारों से समृद्ध ट्रांसवाल की बोअर सरकार को उखाड़ फेंकने का षड्यंत्र किया। इसका फल 1899-1902 का बोअर युद्ध था जिसमें बोअरों की हार हुई हालाँकि वे वहीं बने रहे।

इसके कुछ ही समय बाद दक्षिण अफ्रीका संघ की स्थापना की गई। इसमें केप, नटाल, ट्रांसवाल और आरेंज रिवर कॉलोनी शामिल थे। इस संघ पर अल्पमत गोरों का शासन था, जिसमें बोअर, अंग्रेज़ तथा दूसरे यूरोपीय देशों से आकर बसे कुछ लोग शामिल थे। दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने बाद में स्वयं को गणतंत्र घोषित किया।

पूर्वी अफ्रीका

मोज़ांबिक के एक भाग पर पुर्तगाली अधिकार को छोड़कर 1884 तक पूर्वी अफ्रीका पर किसी यूरोपीय शक्ति का कोई अधिकार न था। उस वर्ष कार्ल पीटर्स नाम का एक जर्मन दुस्साहसी तटीय क्षेत्रों में आया। रिश्वतों और धमकियों का सहारा लेकर उसने कुछ शासकों को मना लिया कि वे अपने को जर्मनी के संरक्षण में जाने के समझौते कर लें। चूँकि इस क्षेत्र पर फ्रांस और इंग्लैंड की निगाहें भी थीं इसलिए एक समझौता किया गया जिसके अनुसार मेडागास्कर फ्रांस को मिल गया तथा पूर्वी अफ्रीका इंग्लैंड और जर्मनी के बीच बँट गया। ज़ंज़ीबार का शासक भी पूर्वी अफ्रीका का दावेदार था। उसे 1600 किलोमीटर लंबी और 16 किलोमीटर चौड़ी एक पट्टी दे दी गई। फिर इस पट्टी के उत्तरी भाग का पुनर्गठन करके उसे ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र बना दिया गया और दक्षिणी भाग-टांगानिका- को जर्मनी का प्रभाव क्षेत्र बना दिया गया। बाद में इन क्षेत्रों पर ब्रिटेन और जर्मनी ने कब्ज़ा कर लिया परंतु चूँकि जर्मनी ने अफ्रीकियों की ज़मीन बिना कोई रकम दिए ही ले ली थी, इसलिए वे बार-बार विद्रोह के लिए उठ खड़े हुए। इस जर्मन उपनिवेश में 1905 में हुए एक विद्रोह में एक लाख बीस हज़ार अफ्रीकी मारे गए। 1890 में जर्मनी और इंग्लैंड के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार युगांडा इंग्लैंड के लिए "आरक्षित" हो गया। जर्मनी को बदले में हेलिगोलैंड मिला। 1896 में युगांडा को ब्रिटेन का संरक्षित राज्य (प्रोटेक्टरेट) घोषित कर दिया गया। जर्मनी ने भी ज़ंज़ीबार और पेंबा द्वीपसमूह पर तथा विटू और न्यासालैंड (आज का मलावी) पर अपना दावा छोड़ दिया, पर अंदरूनी भागों में उसने और नए क्षेत्र जीते। मोज़ांबिक के पुर्तगाली उपनिवेश को भी जर्मनी और इंग्लैंड के बीच बाँटा जाना था, पर प्रथम विश्व युद्ध के कारण यह योजना खटाई में पड़ गई और जर्मनी से उसके सारे उपनिवेश छिन गए। युद्ध के बाद जर्मन पूर्वी अफ्रीका इंग्लैंड को दे दिया गया और तब इसका नाम फिर से टांगानिका पड़ा। (टांगानिका और ज़ंज़ीबार अब मिलकर तंज़ानिया गणराज्य बन चुके हैं।) ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका का नाम केनिया रखा गया। रूआंडा-उरूंडी का जर्मन उपनिवेश बेल्जियम को दे दिया गया।

उपनिवेशों की दौड़ में जर्मनी की तरह इटली भी देर से शामिल हुआ। इतालवियों ने दो रेगिस्तानी क्षेत्रों पर कब्ज़ा कर लिया। ये थे सोमालीलैंड और एरिट्रिया जो "अफ्रीका का सींग" के नाम से विख्यात क्षेत्र में है। अबीसीनिया, जो आज इथियोपिया कहलाता है, एक स्वतंत्र राज्य था। इटली अबीसीनिया को अपना संरक्षित क्षेत्र घोषित करना और उस पर आक्रमण करना चाहता था। अबीसीनिया के राजा ने इटली के दावे को नामंजूर कर दिया और 1896 में उसने इटली की आक्रमणकारी सेना को हराया। दूसरे अफ्रीकी राज्यों के विपरीत अबीसीनिया फ्रांस से हथियार प्राप्त करने में सफल रहा था। यह ऐतिहासिक युद्ध जिसमें एक अफ्रीकी राज्य ने एक यूरोपीय राज्य की सेना को हराया था, अदोवा का युद्ध कहलाता है। इतालवियों को पीछे हटना पड़ा। 1935 में द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले इटली ने अबीसीनिया को जीतने की एक कोशिश और की। इस काल में कुछ वर्षों को छोड़कर एरिट्रिया के अलावा शेष इथियोपिया अपनी स्वतंत्रता बनाए रखने में सफल रहा।

उत्तरी अफ्रीका

सन् 1830 में फ्रांस ने अफ्रीका के उत्तरी तट पर स्थित अल्जीरिया पर कब्ज़ा कर लिया, पर फ्रांसीसी कब्ज़े के खिलाफ अल्जीरियाई प्रतिरोध को कुचलने में उसे लगभग 40 साल लगे। यह फ्रांस का सबसे मुनाफेवाला उपनिवेश था जो फ्रांसीसी माल के लिए बहुत बड़ा बाज़ार उपलब्ध कराता था। अल्जीरिया के पूर्व में ट्यूनीशिया है जिस पर फ्रांस, इंग्लैंड और इटली की नज़रें गड़ी हुई थीं। 1878

सन् 1914 में अफ्रीका में
साम्राज्यवाद का प्रभुत्व
अटलांटिक महासागर
मोरक्को (स्पेनी)
मोरक्को
अल्जीरिया
ट्यूनिशिया
भूमध्य सागर
त्रिपोली
लिबिया
स्वेज नहर
रियो-डि-ओरो
फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका
मिस्र
लाल सागर
सेनेगल नदी
सेनेगल
गाम्बिया
फ्रांसीसी गिनी
पुर्तगाली गिनी
आइवरी कोस्ट
लाइबेरिया
गोल्ड कोस्ट
टोगो
नाइजीरिया
कैमरून
एरीट्रिया
आदिस अबाबा
इथियोपिया
सोमालीलैंड
ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका
जर्मन पूर्वी अफ्रीका
दार-एस-सलाम
हिन्द महासागर
ब्राजविल
केबिंडा
लियोपोल्डविल
अंगोला
उत्तरी रोडेशिया
दक्षिणी रोडेशिया
मोजाम्बिक
मेडागास्कर
दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका
प्रिटोरिया
स्वाज़ीलैंड
दक्षिण अफ्रीका
बसुतोलैंड
फ्रांसीसी
ब्रिटिश
इतालवी
जर्मन
बेल्जियन
पुर्तगाली
स्पेनी

के एक समझौते के अनुसार इंग्लैंड ने साइप्रस द्वीप पर ब्रिटिश कब्ज़े के बदले में ट्यूनीशिया को फ्रांस के लिए मुक्त छोड़ दिया । कुछ वर्षों के बाद ट्यूनीशिया फ्रांस का उपनिवेश बन गया।

अफ्रीका के उत्तरी तट पर जिब्राल्टर के ठीक दक्षिण में मोरक्को नामक देश स्थित है। इसलिए यह भूमध्य सागर पश्चिमी प्रवेश के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। फ्रांस और इटली दोनों इस पर कब्ज़े के दावे कर रहे थे। 1900 में इन दोनो ने समझौता किया। मोरक्को पर फ्रांस और ट्यूनीशिया के पूर्व में स्थित त्रिपोली तथा सायरेनायका पर इटली का कब्ज़ा मान लिया गया। 1904 के एक समझौते के अनुसार मोरक्को फ्रांस को और मिस्र इंग्लैंड को मिल गया। इन समझौतों पर हस्ताक्षर के बाद फ्रांस मोरक्को की विजय के लिए तैयारियाँ करने लगा।

उत्तरी अफ्रीका के बँटवारे के लिए जब इंग्लैंड, फ्रांस और इटली समझौते कर रहे थे, तब जर्मनी को अनदेखा कर दिया गया था। उसने फ्रांसीसी कब्ज़े का विरोध करने की धमकी दी। मोरक्को पर फ्रांसीसी कब्ज़े के बदले स्पेन को टेंजीयर देने का वादा किया गया था। इसलिए उत्तरी अफ्रीका में जर्मनी की महत्वाकांक्षाओं को संतुष्ट करना आवश्यक हो गया। अनेक अंतर्राष्ट्रीय संकट उभरे और ऐसा लगा कि युद्ध होकर रहेगा। जर्मन विदेश मंत्री ने कहा, "आपने स्पेन, इंग्लैंड तथा यहाँ तक कि इटली से भी मोरक्को पर अपना अधिकार ख़रीद लिया है और आपने हमें किनारे कर दिया है।'' परंतु दूसरे मामलों की तरह मोरक्को पर किसका कब्ज़ा हो, इसका फैसला भी यूरोप में किया गया। मोरक्को की जनता से कोई पूछने तक नहीं गया। अंत में फ्रांस ने फ्रेंच कांगो का ढाई लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र जर्मनी को देने की बात मान ली। मोरक्को का एक छोटा सा भाग स्पेन को देकर उसे और भी संतुष्ट कर दिया गया। 1912 में फ्रांस ने मोरक्को को संरक्षित राज्य बना लिया फिर भी प्रथम विश्वयद्ध के बाद फ्रांस को अनेक वर्ष वहाँ के विद्रोहों को कुचलने में लगे।

जैसाकि आपने अध्ययन किया है, त्रिपोली तथा सायरेनायका पर इटली के दावे को यूरोपीय राष्ट्रों का समर्थन मिल गया था। वे दोनों तुर्क साम्राज्य के क्षेत्र थे। अब इटली ने तुर्की के साथ युद्ध छेड़ दिया और इन दोनों प्रांतों पर कब्ज़ा कर लिया। इन्हें फिर से लिबिया नाम दे दिया गया जो इनका पुराना रोमन नाम था।

19 वीं सदी में जब उपनिवेशों के लिए भाग-दौड़ आरंभ हुई तब मिस्र तुर्क साम्राज्य का एक प्रांत था। इस पर तुर्की के सुल्तान का एक प्रतिनिधि शासन करता था जिसे पाशा कहा जाता था। नेपोलियन के समय से ही फ्रांस मिस्र में दिलचस्पी ले रहा था। मिस्र के सूबेदार इस्माइल पाशा से एक फ्रांसीसी कंपनी ने स्वेज की स्थलसंधि (इस्थमस)के आर-पार एक नहर बनाने की अनुमति प्राप्त कर ली थी। यह नहर 1869 में पूरी हुई। अब इस देश में ब्रिटेन की दिलचस्पी भी जागी। भारत का रास्ता सुरक्षित रखने के लिए ब्रिटिश प्रधानमंत्री डिज़रेली ने पाशा से नहर के बहुत शेयर ख़रीद लिए। इस नहर को डिज़रेली ने "हमारे भारतीय साम्राज्य का महामार्ग'' कहा था।

पाशा की वित्तीय कठिनाइयों के कारण मिस्र में ब्रिटेन और फ्रांस का संयुक्त नियंत्रण और भी बढ़ गया। जब पाशा ने प्रतिरोध की कोशिश की तो उसे पद छोड़ने के लिए मजबूर किया गया और एक नया सूबेदार नियुक्त हुआ। 1882 में आंग्ल-फ्रांसीसी नियंत्रण के ख़िलाफ़ एक विद्रोह हुआ और इस विद्रोह को कुचलने की प्रक्रिया में ब्रिटिश सेनाओं ने मिस्र को जीत लिया। कानून और व्यवस्था की बहाली और स्वेज़ नहर की सुरक्षा को मिस्र में सैनिक हस्तक्षेप का कारण बताया गया। इंग्लैंड ने घोषणा की कि व्यवस्था के पुनर्स्थापित होते ही वह अपनी सेनाएँ वापस बुला लेगा। विद्रोह के कुचले जाने के बाद मिस्र पर ब्रिटेन का नियंत्रण हो गया । 1914 में प्रथम विश्व युद्ध के आरंभ होने पर इंग्लैंड ने घोषणा की कि मिस्र अब तुर्की का प्रांत न होकर ब्रिटेन का संरक्षित राज्य है। इस ब्रिटिश विजय को मिस्र वालों ने कभी स्वीकार नहीं किया। युद्ध के समाप्त होने के बाद मिस्र के नेता मिस्र का मामला सामने रखने के लिए पेरिस शांति सम्मेलन के लिए चले, पर उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया। 1922 में ब्रिटेन का स्वेज़ नहर पर नियंत्रण बना रहा और दूसरे अधिकार भी बने रहे पर उसे बाध्य होकर मिस्र को एक स्वतंत्र प्रभुतासंपन्न राज्य मानना पड़ा।

सूडान का, जिसे मिस्री सूडान कहा जाता था, शोषण

1906 में स्फ़िक्स के साथ खड़ी ब्रिटिश फौज़, स्फ़िक्स मिस्र के प्राचीन स्मारक हैं।

मिस्र और ब्रिटेन मिलकर करते थे। एक सूडानी नेता, जिसने खुद को "मेहदी" घोषित किया था, 1880 के बाद के दशक में सूडान से मिस्री और ब्रिटिश नियंत्रण समाप्त करने में सफल रहा। उसकी सेना ने मिस्र और ब्रिटेन की सेनाओं को हराया। 1898 में एक लंबी और ख़ूनी लड़ाई के बाद ब्रिटिश और मिस्री सेनाएँ फिर से सूडान पर कब्ज़ा करने में सफल हो गईं। इस युद्ध में मेहदी के उत्तराधिकारी समेत 20,000 सूडानी मारे गए। सूडान पर ब्रिटेन का शासन हो गया। इस समय फ़्रांसीसियों ने सूडान के दक्षिणी भागों पर कब्ज़ा करने की कोशिश की, परंतु अंग्रेज़ों ने उन्हें पीछे हटने पर मजबूर कर दिया। फिर भी फ़्रांस को तथाकथित पश्चिमी सूडान और सहारा में अपना नियंत्रण बढ़ाने की छूट दे दी गई। एक लंबे युद्ध के बाद फ़्रांस ने इन क्षेत्रों पर कब्ज़ा कर लिया। इन उपलब्धियों के बाद फ़्रांस अपने भूमध्यरैखिक क्षेत्रों को उत्तरी और पश्चिमी अफ्रीका में स्थित अपने क्षेत्रों से जोड़ने में सफल हो गया।

अमरीकी महाद्वीप और प्रशांत

स्पेन, पुर्तगाल, ब्रिटेन, फ्रांस और दूसरे यूरोपीय देशों द्वारा दोनों अमरीकी महाद्वीपों का उपनिवेशीकरण 16वीं सदी में शुरू हुआ और एक स्वतंत्र राज्य के रूप में संयुक्त राज्य अमरीका 1976 में उभर कर आया। दक्षिणी अमरीका के कुछ देशों और कैरीबियन में स्वतंत्रता आंदोलन हुए। 19 वीं सदी के तीसरे दशक तक अमरीकी महाद्वीपों के लगभग सारे देश स्पेन और पुर्तगाल से स्वतंत्र हो चुके थे। फिर यूरोपीय देशों के कुछे उपनिवेश ही दुनिया के इस भाग में रह गए थे। इन में थे - क्यूबा और प्यूरटो रिको-जिन पर अभी भी स्पेन का ही शासन था।

19 वीं सदी में संयुक्त राज्य अमरीका महाद्वीपों में सबसे बड़ी शक्ति बनकर उभरा। मेक्सिको से युद्ध करके और फ़्रांस, स्पेन तथा रूस से क्रमशः लुइसियाना, फ़्लोरिडा और अलास्का को ख़रीदकर उसने अपने क्षेत्र का विस्तार कर लिया था। 1861-65 के गृहयुद्ध के, जिसके परिणाम स्वरूप दासप्रथा समाप्त हो गई थी, कुछ ही समय बाद संयुक्त राज्य दुनिया की एक प्रमुख औद्योगिक और सैनिक शक्ति बनकर उभरा। 1900 में उसकी नौसैनिक शक्ति दुनिया में तीसरे नंबर की थी। जिन शक्तियों ने यूरोप और फिर जापान में साम्राज्यवाद को जन्म दिया था, उन्हीं के कारण संयुक्त राज्य उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में एक प्रमुख साम्राज्यवादी शक्ति बनकर उभरा। अफ़ीम युद्ध के बाद चीन पर कुछ यूरोपीय देशों ने जो संधियाँ लादी थीं, उन्ही की तर्ज़ पर संयुक्त राज्य ने भी 1844 में चीन से एक संधि की। आप इसके बारे में पहले ही पढ़ चुकें हैं। 1853 में कमोडोर पेरी ने जापान के साथ जिस तरह बल प्रयोग किया, आप उसके बारे में भी पढ़ चुके हैं। स्पेन के साथ युद्ध के बाद फिलीपीन्स संयुक्त राज्य का उपनिवेश बन गया था। संयुक्त

राज्य ने स्पेन से प्यूरटो रिको और प्रशांत महासागर में स्थित गुआम भी ले लिया था। क्यूबा नाम भर को स्वतंत्र था पर वास्तव में अमरीका का अनुगामी बन गया।

जब उपनिवेशों के लिए छीना-झपटी शुरू हुई तो संयुक्त राज्य के नेताओं ने भी घोषणा की कि "उसे भी इस अभियान से बाहर नहीं रहना चाहिए।" यूरोप के साम्राज्यवादी देशों की तरह उसने भी घोषणा की कि उसे भी पिछड़े देशों को "सभ्य बनाने" का और निश्यच ही अपने बाजारों तथा अपनी पूँजी की सुरक्षा के लिए दूसरे देशों के मामलों में दख़ल देने के अधिकार हैं।

1890 के दशक से 20 वीं सदी के आरंभिक वर्षो तक के काल में संयुक्त राज्य ने दक्षिणी अमरीका और प्रशांत क्षेत्र पर अपना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित कर लिया। 1823 में अमरीकी राष्ट्रपति ने अपना मनरो-सिद्धांत सामने रखा था जिसमें यूरोपीय देशों को चेतावनी दी गई थी कि वे पश्चिमी गोलार्द्ध में अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयास न करें। 1895 में मनरो-सिद्धांत को एक नया अर्थ दिया गया । ब्रिटिश गायना (अब गायना) और निकारागुआ के बीच सीमाई क्षेत्रों को लेकर झगड़ा था तथा अंग्रज़ों ने अपनी फौजें निकारागुआ के ख़िलाफ़ भेजने की धमकी दी थी । अमरीकी सरकार ने ब्रिटेन को फौज न भेजने के लिए मजबूर किया और घोषणा की कि "संयुक्त राज्य इस महाद्वीप में व्यावहारिक रूप से सर्वप्रभुता संपन्न है।" अमरीकी राष्ट्रपति थियोडोर रूज़वेल्ट ने 1904 में मनरो-सिद्धांत में एक नई उपधारा जोड़ी। ब्रिटेन और जर्मनी ने वेनेज़ुएला के ख़िलाफ़ नौसैनिक नाकाबंदी कर रखी थी, क्योंकि वह उनसे लिया गया कर्ज़ नहीं चुका सका था। थियोडोर रूज़वेल्ट ने ब्रिटेन और जर्मनी को नाकाबंदी उठाने के लिए बाध्य किया और घोषणा की कि अगर संयुक्त राज्य के पड़ोसी देश अपने बल पर व्यवस्था कायम नहीं रख सकते तो केवल उसे ही उनके मामलों में दख़ल देने का अधिकार है। संयुक्त राज्य ने डोमिनिकन गणराज्य की वित्त-व्यवस्था अपने हाथों में ले ली और तीन दशक तक उस पर नियंत्रण करता रहा। उसने उस देश पर 1916 में आठ वर्षो तक कब्ज़ा भी किए रखा। 1906 में अमरीकी फौजें क्यूबा भेजी गई और वह क्यूबा को अव्यवस्था से "सुरक्षित" रखने के लिए तीन वर्षो तक वहाँ रहीं। 1909 में एक अमरीकी खदान कंपनी द्वारा भड़काए गऐ एक विद्रोह के समर्थन में अमरीकी सेनाएँ निकारागुआ भेजी गईं। वहाँ जो सरकार स्थापित की गई उससे वहाँ अमरीकी हितों की रक्षा के लिए संयुक्त राज्य ने हस्तक्षेप करने का अधिकार भी ले लिया। 1915 में अमरीकी फ़ौजें हाइती भेजी गई जो 1934 तक वहाँ रहीं। मेक्सिको में जहाँ अमरीका की भारी पूँजी लगी थी, उसके समर्थन से एक लोकप्रिय नेता फ़्रांसिस्को मादेरो को सत्ता से हटा दिया। मेक्सिको में संयुक्त राज्य का हस्तक्षेप अनेक वर्षों तक चलता रहा।

संयुक्त राज्य की इस नीति को 'बड़ा डंडा' और "अंतर्राष्ट्रीय पुलिस मैन" की नीति कहा गया है। इस क्षेत्र में आर्थिक निवेश के द्वारा संयुक्त राज्य का प्रभाव बढ़ाने की नीति को "डालर कूटनीति" कहा गया है। दक्षिण अमरीका पर आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने में इस बात से भी मदद मिली कि इन देशों में मज़बूत सरकारें नहीं थीं। इनमें अनेक देशों पर 'कौडिलो' नाम से जाने जाने वाले भोंडे और भ्रष्ट सैनिक शासकों का राज था जिनके पास हथियारबंद गिरोह होते थे। उन्होंने नकद धन पाने के लिए ऋण-पत्र जारी किए, पैसा लेकर विदेशी कंपनियों को अनुमति दी कि वे इन देशों के प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लिए धन लगाएँ। उन्होंने औद्योगिक देशों, खासकर संयुक्त राज्य के कारख़ानों के माल के लिए बाज़ार तथा उनके लिए कच्चे मालों के स्रोत भी जुटाए तथा इन देशों को पूँजी लगाने के लिए अवसर दिए। दक्षिण अमरीका के अधिकांश देश राजनीतिक रूप से स्वाधीन होते हुए भी संयुक्त राज्य के आर्थिक-राजनीतिक नियंत्रण में आ गए।

पनामा नहर इस काल में संयुक्त राज्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। क़ोलंबिया (मध्य अमरीका) में पनामा स्थल-संधि (इस्थमस) के आर-पार एक फ़्रांसीसी कंपनी ने एक नहर का निर्माण आरंभ किया था। अटलांटिक और प्रशांत महासागरों को जोड़ने वाली इस नहर का बहुत अधिक आर्थिक महत्व था। 1901 में संयुक्त राज्य ने अकेले ही इस नहर को बनाने का फैसला किया। उसने फ़्रांसीसी कंपनी को 4 करोड़ डालर दिए और कोलंबिया की सरकार के साथ एक समझौता किया। इस

समझौते के अनुसार कोलंबिया को एक करोड़ डालर और साथ में ढाई लाख डालर सालाना किराए के बदले अमरीका को 6 मील चौड़े नहर-क्षेत्र पर स्थायी अधिकार सौंपना था। यह समझौता पूरी तरह कोलंबिया के हितों के विपरीत था और कोलंबिया की संसद ने इसे अनुमोदित करने से इन्कार कर दिया। 1903 में संयुक्त राज्य ने वित्तीय और दूसरी सहायता देकर पनामा में एक क्रांति करा दी और अपनी फ़ौजें वहाँ भेज दीं। इसके फौरन बाद संयुक्त राज्य ने पनामा को एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में मान्यता दे दी। पनामा की सरकार ने संयुक्त राज्य के साथ एक नया समझौता किया, जिस के अनुसार हर्जाने की रकम तो वही रही परंतु 6 मील चौड़े नहर-क्षेत्र की जगह 10 मील चौड़ा नहर-क्षेत्र संयुक्त राज्य के हवाले किया गया। यह नहर 1914 में खोली गई। नहर-क्षेत्र तब से अब तक संयुक्त राज्य के कब्ज़े में है।

इस काल में संयुक्त राज्य ने प्रशांत क्षेत्र में भी अपना नियंत्रण बढ़ाया। अमरीकी जहाज़रानी और चीन के साथ व्यापार के लिए हवाई द्वीपसमूह का बहुत महत्व था। इन द्वीपों में संयुक्त राज्य का आर्थिक और व्यापारिक प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ता गया और वहाँ अमरीकियों के गन्ने की बड़े पैमाने पर खेती करने के लिए बस जाने से ये द्वीप संयुक्त राज्य की अर्थव्यवस्था के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ गए। एक नौसैनिक स्टेशन के रूप में पर्ल हार्बर का उपयोग करने का एकाधिकार संयुक्त राज्य ने पा लिया। 1893 में हवाई की महारानी के ख़िलाफ़ वहाँ बसे अमरीकियों ने विद्रोह कर दिया तथा इन द्वीपसमूहों को अमरीका में मिलाने की माँग की। 1899 तक संयुक्त राज्य हवाई पर अपना कब्ज़ा कर चुका था। बाद में यह संयुक्त राज्य अमरीका का एक राज्य बन गया।

संयुक्त राज्य ने प्रशांत के दूसरे द्वीपों पर भी अपना नियंत्रण फैलाया। समोअन द्वीपसमूह को लेकर संयुक्त राज्य, ब्रिटेन और जर्मनी के बीच शत्रुता चल रही थी। 1898 में इन द्वीपों को जर्मनी और संयुक्त राज्य ने आपस में बाँट लिया और ब्रिटेन को 'हर्जाना' के रूप में प्रशांत में दूसरे द्वीप समूह दिए गए।

1911 में फ्रांसिस्को मेडेरो के सत्ता में आने के पहले, लगभग तीस वर्षों से मैक्सिको की सत्ता पोरफेरियो डियाज़ के हाथ में थी। यह व्यंग्य चित्र प्रसिद्ध मैक्सिकन चित्रकार सिक्वेराज़ ने बनाया है जिसमें दिखाया गया है कि डियाज़ संविधान अपने पैरो के नीचे दबा कर बैठा है

साम्राज्यवाद के प्रभाव

दुनिया के लगभग सभी गैर-औद्योगिक भाग 1914 तक कुछेक औद्योगिक देशों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष नियंत्रण में आ चुके थे। एशिया और अफ्रीका के लगभग सभी देशों की राजनीतिक स्वतंत्रता समाप्त हो चुकी थी और उन पर किसी न किसी साम्राज्यवादी देश का शासन था। इन सभी देशों की तथा राजनीतिक रूप से स्वतंत्र देशों की भी

अर्थव्यवस्थाओं का नियंत्रण कुछ साम्राज्यवादी देश अपने हित में कर रहे थे। दुनिया के सभी भाग एक ही विश्व आर्थिक व्यवस्था के अंतर्गत आ गए जो उपनिवेशों के शोषण पर आधारित थी। 1945 के बाद से अधिकांश एशियाई और अफ्रीकी उपनिवेश स्वतंत्र और स्वाधीन हो चुके हैं। इसके बारे में विस्तार से आप आगे पढ़ेंगें। परंतु इन देशों की जनता के जीवन पर साम्राज्यवाद के प्रभाव आज भी स्पष्ट हैं।

उपनिवेशों और साम्राज्यवादी देशों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित देशों का आर्थिक पिछड़ापन साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का सबसे महत्वपूर्ण और स्थाई परिणाम है। साम्राज्यवाद के कारण इन देशों के स्थानीय उद्योग नष्ट हो गए। उदाहरण के लिए, भारत सदियों तक वस्त्रों का निर्यात करता रहा था। साम्राज्यवादी शासन के काल में भारत का देशी वस्त्र उद्योग नष्ट हो गया और वह ब्रिटिश वस्त्र का आयातकर्ता बन गया। इन सभी देशों के प्राकृतिक संसाधन साम्राज्यवादी देशों के नियंत्रण में आ गए और वे अपने लाभ के लिए उनका दोहन करने लगे। इन देशों का उद्योगीकरण नहीं हो सका। इन देशों में कुछ उद्योग आरंभ किए गए परंतु वे साम्राज्यवादी देशों के उद्योगों के हितों के अधीन कर दिए गए या फिर उनकी कंपनियों के लिए मुनाफा कमाने के लिए ही स्थापित किये गए। उपनिवेशों में स्थापित आधुनिक उद्योगों का वहाँ की जनता के जीवन पर कम ही प्रभाव पड़ा। साम्राज्यवादी देशों के उद्योगों की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए उपनिवेशों में खेती के ढर्रे बदल दिए गए। कुछ देशों की पूरी खेती को एक-दो फसल उगाने तक ही सीमित कर दिया गया। उदाहरण के लिए क्यूबा मात्र चीनी का उत्पादक होकर रह गया, इसके अलावा शायद ही उस के पास कुछ और रहा। प्राकृतिक संसाधनों को खुले आम लूटा गया और भारी लगान तथा कर लगाकर उनका शोषण किया गया। उपनिवेशों की कुछ उपजाऊ ज़मीनें बागान लगाने वाले यूरोपियों ने ले लीं। साम्राज्यवाद ने दुनिया के ग़ैर-औद्योगिक देशों के आर्थिक पिछड़ेपन और अल्पविकास को और बढ़ाया। इस तरह इन क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था को पूर्ण तौर पर साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्था के अधीन बनाया गया कि राजनीतिक स्वतंत्रता पाने के बाद भी इन देशों का साम्राजयवादी देशों के शिकंजे से निकलना और अपने हित में अपनी अर्थव्यवस्था का विकास करना कठिन हो गया। उपनिवेशों और दूसरे ग़ैर-औद्योगिक देशों की जनता की निर्धनता साम्राज्यवाद का ऐसा परिणाम है जो अभी भी जारी है।

साम्राज्यवाद ने जातीय दंभ और भेदभाव को भी जन्म दिया। साम्राज्यवादी देशों में यह विचार फैलाया गया कि गोरी जाति श्रेष्ठ है और उसे ईश्वर ने दुनिया पर शासन करने के लिए पैदा किया है। इन उपनिवेशों में गोरे शासकों और बसने वालों ने स्थानीय निवासियों के साथ भेदभाव किया और उन्हें अपने से हीन समझा। अधिकांश यूरोपीय उपनिवेशों में स्थानीय जनता के साथ मेल-जोल नहीं रखा गया तथा यूरोपीय अपने लिए आरक्षित क्षेत्रों में रहते रहे। नस्लवाद का सबसे बुरा उदाहरण दक्षिण अफ्रीका था। वहाँ गोरों और कालों का परस्पर मेल-जोल अपराध था। यह जानकारी भी दिलचस्प है कि एक साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में जापान के उभरने के बाद जापानियों को हीन जाति कहा जाना बंद कर दिया गया। वास्तव में दक्षिण अफ्रीका ने जापानियों को 'मानव गोरों' का दर्जा दिया।

साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष

साम्राज्यवादी शक्तियों को एक-एक कदम पर उन जनगणों के प्रतिरोध का सामना करना पड़ा जिन्हें वे अधीन बनाने के प्रयास कर रहे थे। हथियारों के बल पर मिली विजय अगर निर्णायक भी रही तो भी उसके बाद स्थापित विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए ही नहीं बल्कि अपने-अपने देश को आधुनिक राष्ट्रों के रूप में विकसित करने के लिए भी आंदोलन चलाए गए। साम्राज्यवाद विरोधी इन आंदोलनों का स्वरूप एक अर्थ में अंतरांष्ट्रीय था। एक देश में स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रही जनता दूसरे देशों की जनता का समर्थन करती थी।

साम्राज्यवादी देशों के हाथों में उनके उपनिवेश मोटे तौर पर द्वितीय विश्वयुद्ध तक रहे। पर युद्ध की समाप्ति के बाद दो दशकों के अंदर-अंदर अधिकांश देश स्वाधीनता पाने में सफल हो गए।

19 वीं सदी का अधिकांश भाग तथा 20 वीं सदी के पहले कुछ दशक तक विश्व इतिहास में एक ऐसी अवधि थी जब

दक्षिण अफ्रीका के डबलिन नगर में एक रेल पुल, उसमें काले तथा गोरों के लिए आने जाने के अलग-अलग रास्ते थे

पश्चिमी राष्ट्रों ने एशिया और अफ्रीका पर कब्ज़ा करके उनको अपना उपनिवेश बनाए रखा। साम्राज्यवाद के इस काल के अंतिम वर्षों में दुनिया की लगभग दो-तिहाई जनसंख्या किसी-न-किसी विदेशी सरकार के अधीन थी। यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा बनाए गए साम्राज्य विश्व इतिहास के सबसे बड़े साम्राज्य थे।

साम्राज्यवाद की कहानी छल-कपट, बर्बरता और सैनिक बल के दुरुपयोग की कहानी है। फिर भी साम्राज्यवादी शक्तियाँ "सभ्यता के प्रसार" के नाम पर दूसरे देशों और जनगणों को गुलाम बनाने को उचित बतलाती रहीं।

नए बाज़ारों और कच्चे मालों के स्रोतों पर कब्ज़ा करना और सस्ते श्रम के उपयोग करने वाले उद्योग खड़े करना-इन कारणों ने अनेक "छोटे युद्धों" तथा दो विश्व युद्धों को जन्म दिया। "सभ्यजन के समझौतों" के बावजूद पश्चिमी शक्तियाँ बराबर आपस में दुनिया का पुनर्विभाजन करने के प्रयास करती रहती थीं मगर इन प्रयासों में कभी भी उस जनता के कल्याण को ध्यान में नहीं रखा जाता था, जिसका वास्तव में उस क्षेत्र पर अधिकार था।

अभ्यास

जानकारी के लिए

1. बतलाइए कि औद्योगिक क्रांति के कारण साम्राज्यवाद का उदय क्यों हुआ ?
2. समुचित उदाहरण देते हुए उन उपायों का वर्णन कीजिए जिनके द्वारा साम्राज्यवादी देशों ने अफ्रीका के अधिकांश भागों का अधिग्रहण किया।

3. एशिया और अफ्रीका के देशों पर पश्चिमी शक्तियों का प्रभुत्व इतनी आसानी से कैसे स्थापित हुआ ?
4. राष्ट्रवाद ने यूरोप में साम्राज्यवाद को "लोकप्रिय" बनाने में कैसे सहायता की ?
5. एक साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में संयुक्त राज्य अमरीका के उदय का वर्णन कीजिए। समुचित उदाहरण भी दीजिए।
6. सन् 1914 तक जापान के साम्राज्यवादी प्रसार का वर्णन कीजिए।
7. निम्नलिखित शब्दों की समुचित उदाहरणों सहित व्याख्या कीजिए–प्रभाव-क्षेत्र, शोषण, क्षेत्रेतर अधिकार, संरक्षित राज्य, मनरो-सिद्धांत, डालर की कूटनीति।

करने के लिए

1. एशिया और अफ्रीका के मानचित्र तैयार कीजिए और इन पर प्रथम विश्व युद्ध से पहले विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों के उपनिवेश या प्रभाव-क्षेत्र दर्शाइए।
2. अप्रैल 1974 में पुर्तगाल में हुई क्रांति के बाद अफ्रीका में हुए घटनाक्रम का अध्ययन कीजिए।
3. "दास प्रथा, दासव्यापार तथा उसके उन्मूलन के लिए संघर्ष" के विषय पर एक निबंध लिखिए।

सोचने और विचार-विमर्श के लिए

1. 19 वीं और 20 वीं सदियों के साम्राज्य प्राचीन काल के साम्राज्यों जैसे मौर्य साम्राज्य, रोमन साम्राज्य और सिकंदर के साम्राज्य से किस प्रकार भिन्न थे ?
2. 16 वीं से 18 वीं सदी के साम्राज्यवादी प्रसार तथा 1870 से 1914 तक के साम्राज्यवादी प्रसार के अंतर का विवेचन कीजिए।
3. नवस्वतंत्र देशों के सामने मौजूद बड़ी समस्याओं के नाम बतलाकर उन पर विचार-विमर्श कीजिए। ये समस्याएँ किस प्रकार सभी देशों की समस्याएँ हैं ?
4. एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका पर साम्राज्यवादी नियंत्रण के कारण पड़े दीर्घकालिक प्रभाव पर विचार-विमर्श कीजिए।

अध्याय 2

प्रथम विश्व युद्ध

यूरोप में 1914 में एक ऐसा युद्ध आरंभ हुआ जिसने पूरी दुनिया को अपने प्रभाव क्षेत्र में समेट लिया। इस लड़ाई से जितनी बरबादी हुई उतनी मानव-इतिहास में पहले कभी नहीं हुई थी। इससे पहले की लड़ाइयों में ग़ैरसैनिक जनता आमतौर पर शामिल नहीं होती थी और जान की हानि भी आमतौर पर युद्धरत सेनाओं को ही उठानी पड़ती थी। पर 1914 में आंरभ होने वाला युद्ध सर्वव्यापी युद्ध था जिसमें युद्धरत देशों के सारे संसाधन झोंक दिए गए। इसका पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्था पर प्रभाव पड़ा और ग़ैरसैनिक क्षेत्रों पर हुई बमबारियों से, युद्ध के कारण फैले अकाल और महामारियों से जितने ग़ैरसैनिक लोगों की जानें गईं उनकी संख्या मारे गए सैनिकों से कहीं अधिक थी। इस युद्ध का प्रभाव भी अभूतपूर्व था। इसने दुनिया के इतिहास को एक नया मोड़ दिया। इस युद्ध में लड़ाइयाँ यूरोप, एशिया, अफ्रीका और प्रशांत क्षेत्र में लड़ी गईं। इसके अभूतपूर्व फैलाव और सर्वाधिक स्वरूप के कारण इसे प्रथम विश्वयुद्ध कहा जाता है।

साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा

युद्ध के मूल कारण थे – साम्राज्यवादी देशों की आपसी प्रतिस्पर्धाएँ और टकराव। आप अध्याय 1 में पढ़ चुके हैं कि एशिया और अफ्रीका की साम्राज्यवादी विजय के दौरान साम्राज्यवादी देशों में टकराव होते रहते थे। कभी-कभी साम्राज्यवादी आपस में "शांतिपूर्ण निपटारा" कर लेते थे और एक दूसरे के ख़िलाफ बल-प्रयोग किए बिना एशिया या अफ्रीका के किसी भाग को आपस में बाँट लेते थे। कई बार आपसी टकराव के कारण युद्ध की परिस्थितियाँ भी पैदा हो जाती थीं मगर उस समय आमतौर पर युद्ध को टाल दिया जाता था क्योंकि अभी साम्राज्यवादी विजय के और भी अवसर थे। अगर किसी क्षेत्र से किसी साम्राज्यवादी देश को हटना पड़ता तो उसके सामने किसी और क्षेत्र को पाने के अवसर होते थे। कभी-कभी साम्राज्यवादी देशों के बीच युद्ध सचमुच हो जाते थे, जैसाकि जापान और रूस के बीच हुआ। मगर 19 वीं सदी के अंत तक स्थिति बदल चुकी थी। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश भाग को साम्राज्यवादी देश आपस में बाँट चुके थे और नए उपनिवेश पाने का एक ही रास्ता था कि किसी साम्राज्यवादी देश से उसके उपनिवेश छीने जाएँ। इसलिए 19 वीं सदी के अंतिम दशक के बाद के दौर में साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धाओं के कारण विश्व को पुनर्विभाजित करने के प्रयास होने लगे जिससे युद्ध की परिस्थितियाँ पैदा हुईं।

आप पहले पढ़ चुके हैं कि जर्मनी उपनिवेशों की छीनाझपटी में बहुत बाद में शामिल हुआ। जर्मनी के एकीकरण के बाद उसका बहुत अधिक आर्थिक विकास हुआ था। 1914 तक वह लोहे और इस्पात तथा बहुत-सी औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन में ब्रिटेन और फ्रांस को बहुत पीछे छोड़ चुका था। जहाज़-व्यापार में उसने धड़ल्ले के साथ प्रवेश किया। इसका एक जहाज़ 'इंपरेटर' 1912 में बनाया गया था, वह उस वक्त का सबसे बड़ा जहाज़ था। जर्मनी में कारखानों की वस्तुओं के बढ़ते उत्पादन को देखकर ब्रिटेन और फ्रांस दोनों चौंक उठे क्योंकि इससे उन्हें अपनी स्थिति के लिए खतरा दिखाई देने लगा। आप पढ़

चुके हैं कि जर्मनी उपनिवेशों की दौड़ में बहुत बाद में शामिल हुआ था और इसलिए उसे कम उपनिवेश ही हाथ लगे थे, तब तक पुराने साम्राज्यवादी देश एशिया और अफ्रीका के अधिकांश भागों को जीत चुके थे। तब जर्मन साम्राज्यवादियों ने पूर्व में पाँव फैलाने की सोची। उनकी महत्वाकांक्षा थी- पतनशील उस्मानिया (तुर्की) साम्राज्य की अर्थव्यवस्था पर अपना नियंत्रण स्थापित करना। इसके लिए उन्होंने बर्लिन से बग़दाद तक एक रेल-लाइन बिछाने की योजना बनाई। इस योजना से ब्रिटेन, फ्रांस और रूस डर गए, क्योंकि इस रेल-लाइन के तैयार होने पर तुर्की साम्राज्य से संबंधित उनकी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं को धक्का लगता। बेशक अफ्रीका समेत दूसरी जगहों पर भी जर्मनी की अपनी महत्वाकांक्षाएँ थीं।

जर्मनी की तरह यूरोप की सभी प्रमुख शक्तियाँ और जापान की भी अपनी-अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ थीं। इटली एकीकरण के बाद फ्रांस जितना ही शक्तिशाली बन चुका था, वह उत्तरी अफ्रीका स्थित त्रिपोली पर नज़रें गड़ाए था। यह उस्मानिया साम्राज्य का क्षेत्र था। वह तब तक एरिट्रिया और सोमालीलैंड पर कब्ज़ा भी कर चुका था। अफ्रीका में फ्रांस मोरक्को को अपने साम्राज्य में शामिल करना चाहता था। रूस की ईरान, कुस्तुंतुनिया समेत तुर्की साम्राज्य के इलाकों, सुदूर पूर्व और अन्य जगहों से जुड़ी अपनी महत्वाकांक्षाएँ थी। रूस की महत्वाकांक्षाओं का ब्रिटेन, जर्मनी और आस्ट्रिया के हितों और महत्वाकांक्षाओं से टकराव हुआ। जापान भी तब तक साम्राज्यवादी देश बन चुका था। सुदूर पूर्व में उसकी अपनी महत्वाकांक्षाएँ थीं और वह इन्हें पूरा करने के लिए कदम भी उठा चुका था। ब्रिटेन के साथ एक समझौता करने के बाद उसने 1904-05 में रूस को हराया। इससे सुदूर-पूर्व में उसका प्रभाव बढ़ गया। दूसरे सभी साम्राज्यवादी देशों से ब्रिटेन का टकराव हो गया
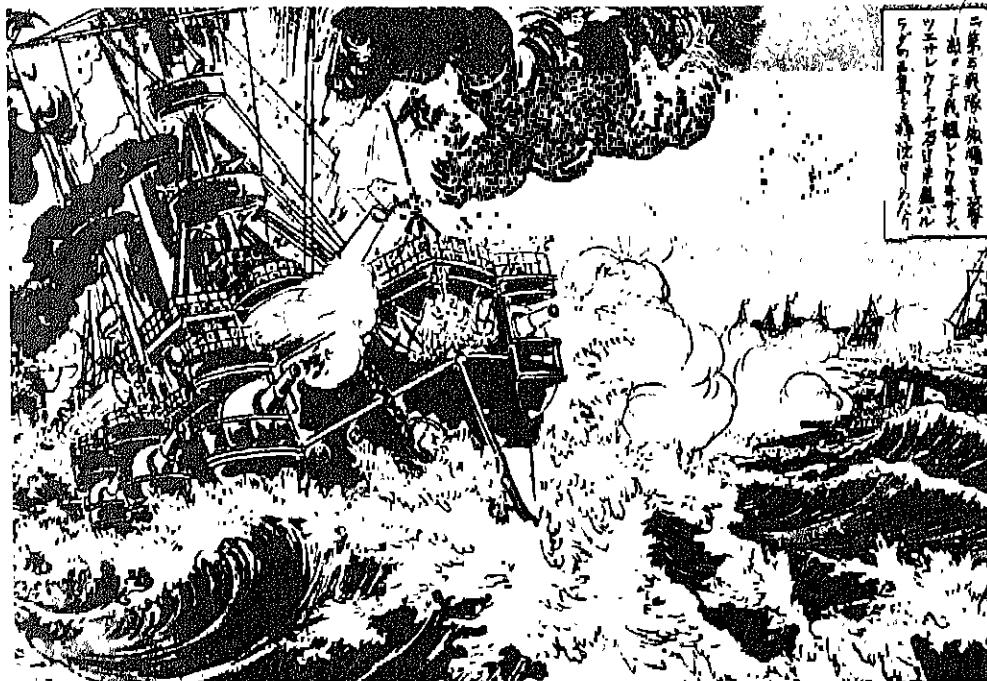
1904-05 के रूसी-जापानी नौसैनिक युद्ध को दर्शाने वाला एक समकालीन जापानी चित्र

था, क्योंकि उसके पास पहले से एक बहुत बड़ा साम्राज्य था और उसकी रक्षा करना आवश्यक था। जब कभी किसी देश की शक्ति बढ़ती तो उसे ब्रिटिश साम्राज्य के लिए ख़तरा समझा जाता था। उसका अंतर्राष्ट्रीय व्यापार भी बहुत फैला हुआ था और इस व्यापार की रक्षा उसे प्रतियोगी देशों से करनी पड़ती थी।

साथ ही उसे अपने साम्राज्य के व्यापार-मार्गों की रक्षा भी करनी थी। तुर्की साम्राज्य के बारे में आस्ट्रिया की भी महत्वाकांक्षाएँ थीं। संयुक्त राज्य अमरीका भी 19 वीं सदी के अंत तक एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभर चुका था। उसने फिलीपीन्स को हड़प लिया था। चूँकि उसका व्यापार बहुत तेज़ी से बढ़ रहा था इसलिए उसकी मुख्य दिलचस्पी व्यापार की स्वतंत्रता बनाए रखने में थी। दूसरी बड़ी ताक़तों के प्रभाव का बढ़ना अमरीकी हितों के लिए ख़तरा समझा जाता था।

यूरोप मे संघर्ष

यूरोप की प्रमुख शक्तियों के बीच उपनिवेशों और व्यापार को लेकर टकराव तो थे ही, साथ ही यूरोप के अंदर होने वाली कुछेक घटनाओं को लेकर भी टकराव थे। उस समय यूरोप में छः प्रमुख शक्तियाँ थीं — ब्रिटेन, जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, रूस, फ्रांस और इटली। एक प्रश्न जिसमें ये सभी देश उलझ गए, वह था — यूरोप के बल्कान प्रायद्वीप के देशों का प्रश्न। बल्कान प्रायद्वीप के देश तुर्की साम्राज्य के अधीन थे मगर 19 वीं सदी में तुर्की साम्राज्य का पतन आरंभ हो चुका था। स्वाधीनता के लिए अनेक जातियाँ इस साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर रही थीं। रूस के ज़ारों को आशा थी कि इन क्षेत्रों से उस्मानी तुर्कों का शासन समाप्त होने के बाद ये रूस के नियंत्रण में आ जाएँगे। उन्होने सर्व-स्लाव (पान-स्लाव) नामक एक आंदोलन को बढ़ावा दिया जो इस सिद्धांत पर आधारित था कि पूर्वी यूरोप के सभी स्लाव एक ही जनगण के लोग हैं। स्लाव आस्ट्रिया-हंगरी के अनेक क्षेत्रों में भी रहते थे। इसलिए रूस ने तुर्की साम्राज्य और आस्ट्रिया-हंगरी, दोनों के ख़िलाफ़ आंदोलनों को बढ़ावा दिया। तुर्की साम्राज्य और आस्ट्रिया-हंगरी के स्लाव बहुल क्षेत्रों को एक करने के आंदोलन का नेतृत्व बल्कान प्रायद्वीप का एक प्रमुख देश सर्बिया कर रहा था। रूस के बढ़ते प्रभाव को देखकर यूरोप की दूसरी प्रमुख शक्तियाँ चौकन्नी हो गईं। वे रूस के प्रभाव को बढ़ने से रोकना चाहती थीं जबकि आस्ट्रिया-हंगरी इस क्षेत्र में अपना पाँव फैलाना चाहता था।

सर्व-स्लाव आंदोलन की तरह एक सर्व-जर्मनी आंदोलन भी चला जिसका उद्देश्य जर्मनी के प्रभाव को पूरे मध्य यूरोप और बल्कान क्षेत्र में फैलाना था। इटली ने कुछ ऐसे क्षेत्रों पर दावा किया जो उस समय आस्ट्रिया के अधीन थे। फ्रांस न केवल अल्सास-लोरेन को वापस पाना चाहता था जो उसे 1871 में जर्मनी को दे देना पड़ा था, बल्कि जर्मनी के साथ 1870-71 के युद्ध में उसकी जो शर्मनाक हार हुई थी, जर्मनी से उसका वह बदला भी लेना चाहता था।

गुटों का निर्माण

ऊपर यूरोप के अंदर होने वाले और उपनिवेशों को लेकर होने वाले जिन टकरावों का वर्णन किया जा चुका है, उनके कारण 19 वीं सदी के अंतिम दशक और उसके बाद के काल में यूरोप में तनाव की स्थिति पैदा हो गई। यूरोप के देश अब परस्पर-विरोधी गुटों में शामिल होने लगे। अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने , अपनी सेनाओं और नौसेनाओं की संख्या बढ़ाने, नए और पहले से अधिक घातक हथियार विकसित करने तथा आम तौर पर युद्ध की तैयारियों पर वे अपार धन खर्च करने लगे। यूरोप अब धीरे-धीरे एक विशाल सैनिक शिविर बनता जा रहा था। साथ ही हर देश में युद्ध-प्रचार भी आरंभ हो गया जिसमें दूसरे देशों के ख़िलाफ़ नफ़रत भड़काई जाती थी, अपने देश को दूसरों से श्रेष्ठ बतलाया जाता था और युद्ध को महिमा मंडित किया जाता था। बेशक ऐसे लोग भी थे जिन्होंने युद्ध के ख़तरे के ख़िलाफ़ और सैन्यीकरण के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई। मगर जल्द ही ये सारी आवाज़ें युद्ध के तुमुलनाद में दब गईं।

देशों के परस्पर-विरोधी समूहों या यूरोप में बने गुटों ने केवल युद्ध के ख़तरे को ही नहीं बढ़ाया बल्कि उन्होंने

यह भी निश्चित कर दिया कि अगर युद्ध छिड़ गया तो विश्वव्यापी हुए बिना नहीं रहेगा। यूरोपीय देश 19 वीं सदी से ही गुटों का निर्माण और पुनःनिर्माण करते आ रहे थे। अंत में 20 वीं सदी के पहले दशक में देशों के दो परस्पर-विरोधी गुट बन गए और वे अपनी-अपनी सैनिक-शक्ति के साथ एक-दूसरे के मुकाबले के लिए तैयार हो गए। 1882 में एक त्रिगुट (ट्रिपल एलायंस) बना था जिसमें जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी और इटली शामिल थे। मगर इस गुट के प्रति इटली की वफ़ादारी संदिग्ध थी क्योंकि उसका मुख्य उद्देश्य यूरोप में आस्ट्रिया-हंगरी से कुछ इलाके छीनना और फ्रांस की सहायता से त्रिपोली को जीतना था। इस त्रिगुट के विरोध में फ्रांस, रूस और ब्रिटेन ने 1907 में एक त्रिदेशीय संधि (ट्रिपल आंतॉं) बनाई। जैसाकि शब्द "आंतॉं" (इसका शाब्दिक अर्थ है — आपसी समझदारी) से स्पष्ट है, यह संधि सिद्धांत रूप में आपसी समझ पर आधारित एक ढीला-ढाला गठजोड़ थी। इन दो परस्पर-विरोधी गुटों के उदय से यह निश्चित हो गया था कि अगर इनमें से कोई भी देश किसी टकराव में उलझता है तो वह टकराव अंततः अखिल-यूरोपीय युद्ध में बदल जाएगा। चूँकि अपने औपनिवेशिक अधिकार-क्षेत्र बढ़ाना भी इन गुटों के देशों के उद्देश्यों में शामिल था, इसलिए किसी अखिल-यूरोपीय युद्ध का विश्वयुद्ध बन जाना लगभग निश्चित था। इन गुटों के निर्माण के साथ अधिक से अधिक घातक हथियार बनाने और सेनाओं एवं नौसेनाओं की संख्या बढ़ाने की दौड़ भी आरंभ हो गई।

युद्ध से ठीक पहले के वर्षों में एक-के-बाद-एक संकट आए। इन संकटों के कारण यूरोप में तनाव और कड़वाहट में वृद्धि हुई और उग्रराष्ट्रवाद (नेशनल शाविनिज़्म) का जन्म हुआ। यूरोपीय देश दूसरों के इलाके पाने के लिए आपस में गुप्त समझौते भी करने लगे। इन समझौतों का अक्सर ही भंडाफोड़ हो जाता था और इससे हर देश में भय और शंका का वातावरण और भी तीखा हो जाता था। ऐसे भय और शंका के कारण युद्ध की घड़ी और भी पास आ गई।

युद्ध से पहले की घटनाएँ

युद्ध के पहले अनेक ऐसी घटनाएँ हुई जिनके कारण तनाव बढ़ा। इनमें से एक था- मोरक्को को लेकर टकराव। 1904 में ब्रिटेन और फ्रांस ने आपस में एक समझौता किया था। इसके अनुसार ब्रिटेन को मिस्र में खुलकर खेलने की छूट मिल गई और फ्रांस को मोरक्को मिल गया। जर्मनी को इस समझौते का पता चल गया और वह क्षुब्ध हो उठा। जर्मन सम्राट मोरक्को गया और उसने मोरक्को के सुल्तान को मोरक्को की स्वतंत्रता के लिए पूरा समर्थन देने का वचन दिया। ऐसा लगता था कि मोरक्को को लेकर होने वाली दुश्मनी युद्ध का करण बन जाएगी मगर युद्ध टल गया। 1911 में फ्रांस ने मोरक्को के अधिकांश भाग पर कब्ज़ा कर लिया और बदले में उसने जर्मनी को फ्रांसीसी कांगो का एक बड़ा भाग दे दिया। हालाँकि युद्ध तो टल गया पर यूरोप में हर देश के युद्ध की तैयारी करने के कारण स्थिति ख़तरनाक हो गई।

यूरोप की ख़तरनाक स्थिति को और भी बदतर बनाने वाली घटनाएँ बल्कान क्षेत्र में हुईं। 1908 में आस्ट्रिया ने बोस्निया और हरज़ेगोविना को हड़प लिया जो तुर्की साम्राज्य के प्रांत थे। इन प्रांतों पर सर्बिया की निगाहें भी गड़ी थीं जिसे बल्कान क्षेत्र में एक संयुक्त स्लाव राज्य कायम करने के लिए रूस का समर्थन प्राप्त था। रूस ने आस्ट्रियाई कब्ज़े के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ने की धमकी दी परंतु जर्मनी ने आस्ट्रिया को खुलकर अपना समर्थन दिया और रूस को पीछे हटना पड़ा। मगर इस घटना से सर्बिया में ही कटुता नहीं फैली बल्कि रूस और जर्मनी की दुश्मनी और भी गाढ़ी हो गई। यूरोप में स्थिति और भी तनावपूर्ण हो गई।

आस्ट्रिया द्वारा बोस्निया और हरज़ेगोविना के हड़पे जाने के बाद जो संकट उत्पन्न हुआ उसके बाद बल्कान में युद्ध आरंभ हो गए। 1912 में चार बल्कान देशों -- सर्बिया, बुल्गारिया, मोंटेनेग्रो और यूनान ने तुर्की के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ दिया। इस युद्ध के फलस्वरूप यूरोप में तुर्की के लगभग सारे अधिकार क्षेत्र छिन गए मगर तुर्की के पुराने अधिकार-क्षेत्रों के बँटवारे के सवाल पर बल्कान के देश आपस में लड़ पड़े। अंत में अस्ट्रिया अल्बानिया को एक स्वतंत्र देश बनवाने में सफल रहा। हालाँकि उस पर सर्बिया का दावा था। सर्बिया की महत्वाकांक्षाएँ पूरी न होने पर वहाँ आस्ट्रिया के ख़िलाफ़ और कड़वाहट पैदा हुई। इन
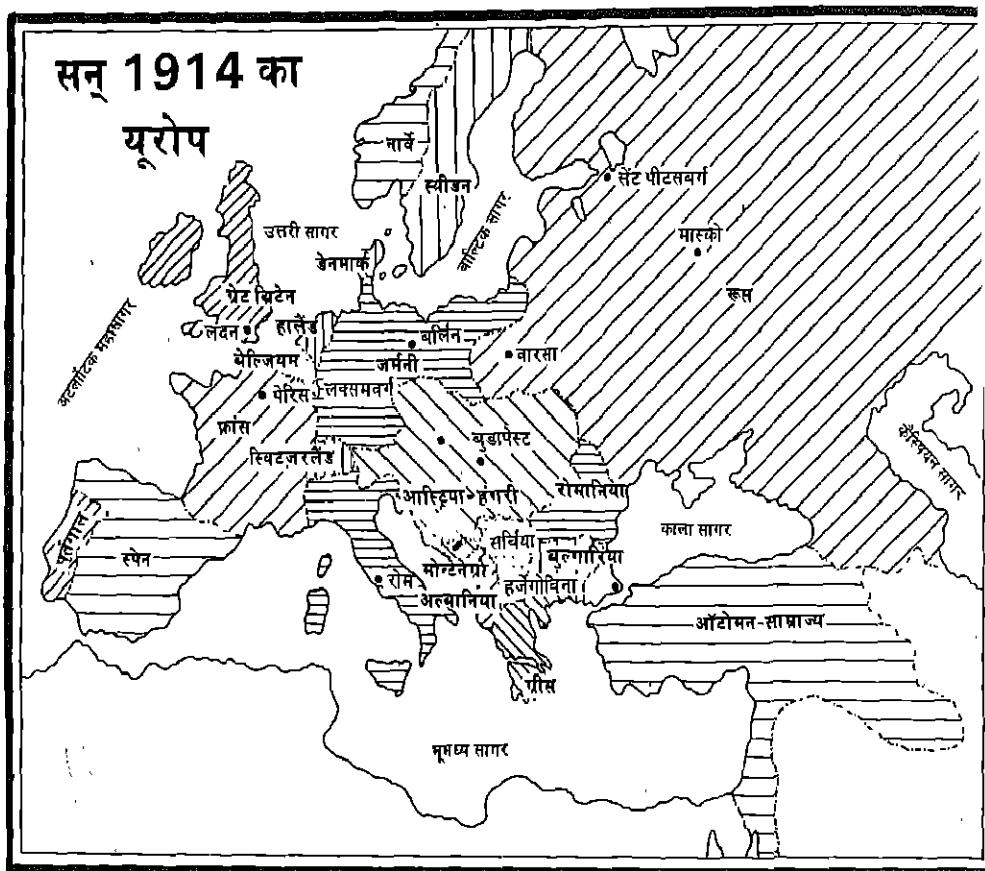
सभी घटनाओं के कारण यूरोप युद्ध के कगार पर आ गया।

युद्ध का आरंभ

युद्ध का आरंभ एक मामूली घटना से हुआ। अगर यूरोप वर्षों से युद्ध की तैयारी कर रहे दो परस्पर-विरोधी सैनिक शिविरों में न बँटा होता तो इस घटना से कोई खास तहलका नहीं मचता। 28 जून 1914 को आर्कड्यूक फ्रांसिस फर्डीनंड की बोस्निया की राजधानी साराजेवो में हत्या हो गई। (यह स्मरणीय है कि कुछ ही वर्ष पहले आस्ट्रिया ने बोस्निया को हड़प लिया था)। फर्डीनंड आस्ट्रिया-हंगरी की गद्दी का उत्तराधिकारी था। आस्ट्रिया ने इस हत्या में सर्बिया का हाथ देखा और उसे चेतावनी दी। सर्बिया ने इस चेतावनी की एक माँग मानने से इनकार कर दिया क्योंकि वह उसकी स्वतंत्रता के खिलाफ थी। 28 जुलाई 1914 को आस्ट्रिया ने सर्बिया के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। रूस ने सर्बिया की पूर्ण सहायता का वादा किया था और इसलिए वह युद्ध की तैयारी करने लगा। जर्मनी ने 1 अगस्त को रूस और 3 अगस्त को फ्रांस के खिलाफ युद्ध की घोषणा की। फ्रांस पर दबाव डालने के लिए जर्मन सेनाएँ 4 अगस्त को बेल्जियम में घुस गईं। उसी दिन ब्रिटेन ने जर्मनी के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी।

अनेक दूसरे देश भी लड़ाई में शामिल हो गए। सुदूर-पूर्व में जर्मनी के उपनिवेश हथियाने के उद्देश्य से जापान ने जर्मनी के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। तुर्की

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान खाई युद्ध को दर्शाता हुआ एक दृश्य

और बुल्गारिया जर्मनी की तरफ हो गए। त्रिगुट का सदस्य होने के बावजूद इटली कुछ समय तक तटस्थ बना रहा। 1915 में वह जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी के खिलाफ़ युद्ध में शामिल हुआ।

युद्ध की घटनाएँ

जर्मनी को आशा थी कि वह बेल्जियम पर बिजली की तरह मार करके फ्रांस पर हमला कर देगा और उसे कुछ ही हफ्तों में हरा देगा और तब वह रूस से उलझेगा। कुछ समय तक ऐसा लगा कि यह योजना सफल हो रही है। जर्मन सेना पेरिस से मात्र 20 किलोमीटर की दूरी तक आ पहुँची। रूस ने जर्मनी और आस्ट्रिया पर हमले आरंभ कर दिए थे और इसलिए कुछ जर्मन सेना पूर्वी मोर्चे पर भी भेजनी पड़ी। जल्द ही फ्रांस की तरफ़ सेनाओं का बढ़ना रुक गया और यूरोप में युद्ध में लम्बें समय के लिए गतिरोध पैदा हो गया। इस बीच युद्ध दुनिया के कई दूसरे भागों तक फैल चुका था और पश्चिमी एशिया, अफ्रीका और सुदूर-पूर्व में लड़ाइयाँ होने लगी थीं।

जर्मन सेनाओं का बढ़ना रुक जाने के बाद एक नए प्रकार का युद्ध आरंभ हो गया। परस्पर भिड़ रही सेनाएँ

प्रथम विश्व युद्ध में टैंक का इस्तेमाल एक नए हथियार के रूप में किया गया था। सबसे पहले ब्रिटेन ने इसको तैयार किया था।

खंदकें खोदकर वहाँ से एक दूसरे पर छापे मारने लगीं। सेनाएँ जिस तरह का युद्ध पहले लड़ती थीं, यानी आमने-सामने होकर एक दूसरे से लड़ना, वह लगभग पूरी तरह समाप्त हो गया। पश्चिमी मोर्चे पर (जिस में पूर्वी फ्रांस और बेल्जियम शामिल थे) विरोधी सेनाओं ने खंदकें खोदीं और वहाँ से एक-दूसरे के ठिकानों पर छापे मारे। लगभग चार वर्षों तक कोई भी पक्ष दूसरे को विस्थापित नहीं कर सका। यूरोपीय देशों ने अपने-अपने उपनिवेशों में भर्ती किए गए सैनिकों का उपयोग इस युद्ध में किया। पूर्वी मोर्चे पर जर्मनी और आस्ट्रिया को रूस के हमले नाकाम बनाने और रूसी साम्राज्य के कुछ भागों पर कब्ज़ा करने में कामयाबी मिली। यूरोप से बाहर फिलिस्तीन, मेसोपोटामिया (इराक) और अरब में तुर्की साम्राज्य के ख़िलाफ़ अभियान संगठित किए गए और जर्मनी तथा तुर्की के ख़िलाफ़ ईरान में भी जो वहां अपना प्रभाव स्थापित करना चाहते थे। पूर्वी एशिया में जापान ने जर्मनी के अधिकार-क्षेत्रों पर कब्ज़ा कर लिया और अफ्रीका में ब्रिटेन तथा फ्रांस ने अधिकांश जर्मन उपनिवेश हथिया लिए।

इस युद्ध में अनेक नए हथियारों का उपयोग किया गया। इस तरह के दो हथियार थे- मशीनगन और तरल-अग्नि
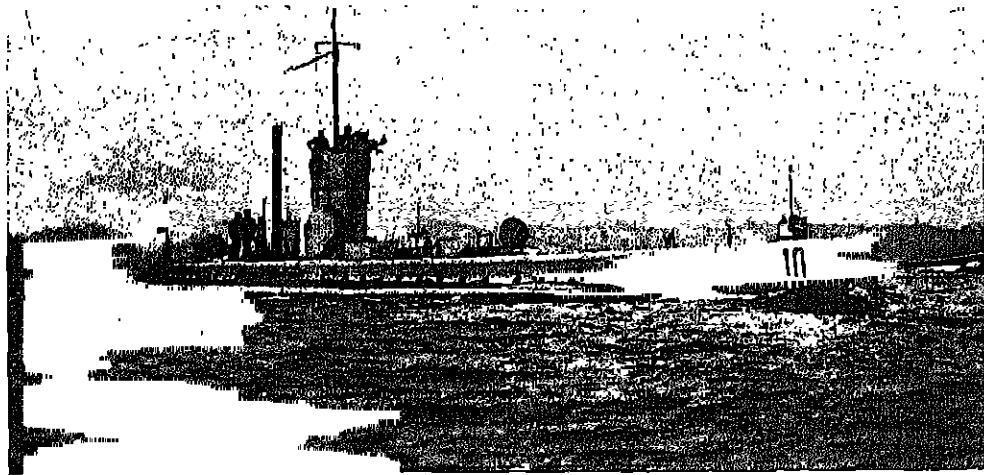
जर्मनी ने प्रथम विश्व युद्ध में पनडुब्बियों का उपयोग किया था जिसे उस समय यू-बोट्स कहा जाता था।

(लिक्विड़ फायर)। युद्ध में पहली बार ग़ैरसैनिक जनता को मारने के लिए हवाई जहाज़ों का उपयोग किया गया। अंग्रेज़ों ने टैंकों का प्रयोग किया जो आगे चलकर युद्ध के प्रमुख हथियार बन गए। दोनों युद्धरत गुटों ने एक-दूसरे तक खाद्यान्न, कारख़ानों के माल तथा हथियार पहुँचाने को रोकने की कोशिशें की और इस काम में समुद्री युद्ध की प्रमुख भूमिका रही। जर्मनी ने बड़े पैमाने पर यू-बोट नामक पनडुब्बियों का उपयोग किया। इसका उद्देश्य दुश्मन के जहाज़ों को ही नहीं बल्कि ब्रिटिश बंदरगाहों की ओर बढ़ रही तटस्थ देशों की नौकाओं को भी नष्ट करना था। इस युद्ध में जहरीली गैसों का भी उपयोग किया गया जो एक और भयानक हथियार था। युद्ध लंबा खिंच गया और इसमें लाखों लोगों की जानें गईं।

6 अप्रैल 1917 को संयुक्त राज्य अमरीका ने जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा की। अमरीका आंतॉं देशों के लिए हथियारों और दूसरी आवश्यक वस्तुओं का प्रमुख स्रोत बन चुका था। 1915 में जर्मनी की यू-बोटें 'लूसीतानिया' नामक एक ब्रिटिश जहाज़ को डुबो चुकी थीं। मरने वाले 1153 यात्रियों में 128 अमरीकी भी थे। आमतौर पर ब्रिटेन के प्रति अमरीकियों की सहानुभूति थी। इस घटना के बाद अमरीका में जर्मनी-विरोधी भावनाएँ और भड़क उठीं। अपने आर्थिक उद्देश्यों के कारण वे आंतॉं देशों के और पक्के समर्थक बन गए। हथियारों और दूसरी वस्तुओं को ख़रीदने के लिए इन देशों ने अमरीका में बड़े पैमाने पर ऋण-पत्र जारी किए थे। अनेक अमरीकियों ने ये ऋण-पत्र ख़रीदे थे जिनकी अदायगी इन देशों के युद्ध में जीतने के बाद होनी थी। यह डर भी था कि अगर युद्ध में जर्मनी की जीत होती है तो वह अमरीका का एक शक्तिशाली प्रतियोगी बन जाएगा। जब जर्मनी की यू-बोटों ने कुछ जहाज़ों को डुबोया, जिनमें अमरीकी नागरिकों को ले जाने वाले अमरीकी जहाज़ भी शामिल थे, तो अमरीका भी अंततः युद्ध में शामिल हो गया।

1917 की एक और प्रमुख घटना थी-अक्तूबर क्रांति और उसके बाद रूस का युद्ध से हट जाना। रूसी क्रांतिकारी आरंभ से ही युद्ध का विरोध करते आए थे और लेनिन के नेतृत्व में उन्होंने फ़ैसला किया था कि वे रूसी निरंकुश शासन को उखाड़ फेंककर सत्ता पर कब्ज़ा करने के लिए इस युद्ध को एक क्रांतिकारी युद्ध में बदल देंगे। युद्ध में रूसी साम्राज्य को भारी नुकसान उठाना पड़ा था। रूस के 6 लाख से अधिक सैनिक मारे जा चुके थे। जिस दिन

बोलशेविक सरकार सत्ता में आई, उसके दूसरे दिन उसने शांति की आज्ञप्ति (डिक्री) जारी की, जिसमें दूसरों के क्षेत्रों को हथियाए बिना और युद्ध के हर्जाने लिए बिना शांति स्थापित करने के प्रस्ताव रखे गए थे। रूस ने युद्ध से हट जाने का फैसला किया और मार्च 1918 में जर्मनी के साथ एक शांति-संधि की। जर्मनी ने यह समझा कि रूस की सरकार युद्ध को जारी रखने की स्थिति में नही है, इसलिए उसने ऐसी शर्तें रखीं जो रूस के लिए बहुत कड़ी थीं पर रूस की सरकार ने ये शर्तें मान लीं। आंतौं देश रूसी क्रांति के और युद्ध से रूस के हटने के विरोधी थे। उन्होंने क्रांति -विरोधी तत्वों को सहायता देने के लिए रूस में सैनिक हस्तक्षेप आरंभ कर दिया। फलस्वरूप एक गृहयुद्ध आरंभ हो गया जो तीन वर्षों तक चला। अंत में सैनिक हस्तक्षेप करने वालों की और क्रांतिकारी सरकार के खिलाफ़ हथियार उठाने वाले रूसियों की हार हुई।

युद्ध की समाप्ति

युद्ध को समाप्त कराने के लिए अनेक प्रयास किए गए। रूस की नई सरकार के प्रस्तावों का ऊपर ज़िक्र किया जा चुका है। 1917 के आरंभ में कुछ समाजवादी पार्टियों ने भी प्रस्ताव किया कि एक अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन का आयोजन किया जाए जो किसी के भूभाग हथियाए बिना युद्ध की समाप्ति के लिए और जनगणों के आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्यता देने के लिए समुचित प्रस्ताव तैयार करे मगर यह सम्मेलन नहीं हो सका। रूस की बोलशेविक सरकार ने जो प्रस्ताव रखे थे कि "किसी के भूभाग हथियाए बिना और युद्ध के हर्जाने लिए बिना, जनगणों के आत्मनिर्णय के सिद्धांत के आधार पर'' शांति स्थापित की जाए, उन प्रस्तावों का युद्धरत देशों की जनता ने स्वागत किया था पर ये प्रस्ताव खारिज कर दिए गए। पोप ने भी शांति के प्रस्ताव रखे पर उनको भी गंभीरता से नहीं लिया गया। हालाँकि युद्ध समाप्त करने के प्रस्तावों को युद्धरत देशों की सरकारों की ओर से कोई सकारात्मक प्रत्युत्तर नहीं मिला मगर जनता में युद्ध-विरोधी भावनाएँ पनपीं। व्यापक असंतोष फैला, गड़बड़ियाँ हुई और कुछ जगहों पर सैनिक विद्रोह तक होने लगे। रूसी क्रांति की सफलता के बाद कुछ देशों में वहाँ की सरकारों को उखाड़ फेंकने के लिए जनता उठ खड़ी हुई।

अमरीका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने जनवरी 1918 में शांति का एक कार्यक्रम सामने रखा। यह राष्ट्रपति विल्सन के 'चौदह सूत्रों' के नाम से विख्यात हुआ। इसमें, राज्यों के बीच खुली बातचीत चलाना, जहाज़रानी की स्वतंत्रता, हथियारों में कमी, बेल्जियम की स्वतंत्रता, फ्रांस को अल्सास-लोरेन की वापसी, यूरोप में स्वतंत्र राज्यों की स्थापना, सभी राज्यों की स्वतंत्रता की ज़मानत के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना, आदि बातें शामिल थीं। युद्ध की समाप्ति के बाद जब शांति की संधियों पर हस्ताक्षर हुए तो उनमें विल्सन के कुछ सूत्रों को शामिल कर लिया गया।

जुलाई 1918 में ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका ने संयुक्त सैनिक अभियान आरंभ किया और जर्मनी तथा उसके सहयोगी देशों की हार होने लगी। बुल्गारिया सितंबर में युद्ध से अलग हो गया। अक्तूबर में तुर्की ने आत्मसमर्पण कर दिया। आस्ट्रिया-हंगरी और जर्मनी में राजनीतिक असंतोष बढ़ रहा था। 3 नवंबर को आस्ट्रिया-हंगरी के सम्राट ने आत्मसमर्पण कर दिया। जर्मनी में एक क्रांति फूट पड़ी। जर्मनी एक गणराज्य बन गया और जर्मन सम्राट कैसर विल्हेल्म द्वितीय भाग कर हालैंड चला गया। नई जर्मन सरकार ने 11 नवंबर 1918 को युद्धविराम संधि पर हस्ताक्षर किए और इस प्रकार युद्ध समाप्त हो गया। इस समाचार को सारी दुनिया में लोगों ने अपार हर्ष के साथ सुना।

शांति-संधियाँ

जनवरी और जून 1919 के बीच विजयी शक्तियों (मित्र राष्ट्रों) का एक सम्मेलन पहले पेरिस के उपनगर वरसाइ में और फिर पेरिस में हुआ। हाँलाकि इस सम्मेलन में 27 देश भाग ले रहे थे, मगर शांति-संधियों की शर्तें केवल तीन देश-ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका तय कर रहे थे। शांति-संधियों की शर्तें निर्धारित करने में जिन तीन व्यक्तियों ने निर्णायक भूमिका निभाई, वे थे — अमरीकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन, ब्रिटेन के प्रधानमंत्री लायड जार्ज और फ्रांस

के प्रधानमंत्री जार्ज क्लेमेंसो। सम्मेलन में पराजित देशों को कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया। विजेता देशों ने सम्मेलन से रूस को भी बाहर रखा। इस तरह इस संधि की शर्तें पराजित और विजेता देशों के बीच बातचीत के द्वारा नहीं तय हुईं बल्कि वे विजेताओं द्वारा पराजित देशों पर लादी गईं।

युद्ध के बाद मुख्य संधि जर्मनी के साथ 28 जून 1919 को हुई। इसे वरसाइ की संधि कहते हैं। जर्मनी की गणतांत्रिक सरकार को युद्ध की धमकी देकर इस संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए मजबूर किया गया। संधि में जर्मनी और उसके सहयोगियों को आक्रमण का दोषी ठहराया गया। फ्रांस को अल्सास-लोरेन वापस दे दिया गया। सार नामक जर्मन क्षेत्र की कोयला खदानें 15 वर्षों के लिए फ्रांस को दे दी गईं, और यह क्षेत्र राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशंस) के प्रशासन में आ गया। जर्मनी को अपने युद्धपूर्व क्षेत्र का कुछ भाग डेनमार्क, बेल्जियम, पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया को भी देना पड़ा। राइन नदी के घाटी क्षेत्र को सेनारहित करने का फैसला किया गया। संधि में जर्मनी के निरस्त्रीकरण की व्यवस्थाएँ भी थीं। उसे अपनी सेना को घटाकर एक लाख करना था और वायुसेना और पनडुब्बियाँ रखने का अधिकार उससे छीन लिया गया। जर्मनी के सारे उपनिवेश उससे छीनकर विजेताओं को दे दिए गए। टोगो और कैमरून को ब्रिटेन और फ्रांस ने आपस में बाँट लिया। दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका और पूर्वी अफ्रीका में स्थित जर्मन उपनिवेश ब्रिटेन, बेल्जियम , दक्षिण अफ्रीका और पुर्तगाल को दे दिए गए। प्रशांत क्षेत्र में स्थित उसके उपनिवेश तथा चीन में उसके सारे अधिकार-क्षेत्र जापान को दे दिए गए। युद्ध के दौरान चीन मित्र राष्ट्रों का सहयोगी था और पेरिस सम्मेलन में उसका प्रतिनिधि भी शामिल हुआ था पर जर्मनी के अधिकार या नियंत्रण करने वाले चीनी क्षेत्र चीन को नहीं लौटाए गए बल्कि वे जापान को दे दिए गए। युद्ध में मित्र राष्ट्रों को जो हानि- और क्षति हुई थी, उसका हरजाना भी जर्मनी को भरना पड़ा। उसके लिए 6 अरब 50 करोड़ पौंड की भारी रकम निश्चित की गई।

जर्मनी के सहयोगियों के साथ अलग से संधियाँ की गईं। आस्ट्रिया-हंगरी को विभाजित कर दिया गया। आस्ट्रिया से कहा गया कि वह हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया और पोलैंड की स्वाधीनता को मान्यता दे । उसे अपने क्षेत्र भी इन देशों को और इटली को देने पड़े। बल्कान क्षेत्र में अनेक परिवर्तन किए गए। अनेक नए राज्य बनाए गए और उनके बीच भूभागों का हस्तांतरण किया गया। बाल्टिक राज्य जो रूसी साम्राज्य के भाग थे, स्वतंत्र घोषित कर दिए गए। तुर्की के साथ की गई संधि में उस्मानिया साम्राज्य को पूरी तरह छिन्न-भिन्न कर दिया गया। ब्रिटेन को फिलिस्तीन और मेसोपोटामिया (इराक) दे दिए गए और फ्रांस को सीरिया दे दिया गया। क्षेत्रों और देशों का यह हस्तांतरण जिस व्यवस्था के तहत किया गया उसे "शासनादेश"(मैंडेट) कहा जाता है। सिद्धांत रूप से "शासनादेश" पाने वाली शक्तियाँ अर्थात ब्रिटेन और फ्रांस को इन देशों की जनता कि हितों के लिए शासन चलाना था। पर वास्तव में उनका शासन उपनिवेशों की तरह किया जाने लगा। तुर्की के क्षेत्र का अधिकांश भाग यूनान और इटली को दे दिया गया और खुद तुर्की को एक बहुत छोटा-सा राज्य बनाने का निर्णय लिया गया। मगर फिर तुर्की में मुस्तफा कमाल के नेतृत्व में एक क्राँति हुई जिसमें सुल्तान को सत्ता से हटा दिया गया और तुर्की को 1922 में गणराज्य घोषित कर दिया गया। तुर्की ने एशिया माइनर और कुस्तुंतुनिया शहर (आज का इस्तंबोल) पर फिर से अधिकार कर लिया और मित्र राष्ट्रों को उसके साथ पहले की गई संधि रद्द करनी पड़ी।

इन शांति-संधियों का एक प्रमुख अंग था-राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशंस) का प्रसंविदा (कोवेनेंट)। राष्ट्रपति विल्सन के 14 सूत्रों में शांति बनाए रखने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना और सभी राज्यों की स्वतंत्रता की ज़मानत भी शामिल थी। इस तरह राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई। इरादा था कि उससे सभी स्वतंत्र राज्यों का एक विश्व संगठन बनाया जाएगा। इसके लक्ष्य थे शांति और सुरक्षा बनाए रखना, अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों का शांतिपूर्ण निपटारा करना और सदस्य-देशों को "युद्ध का सहारा न लेने के लिए" बाध्य करना। इसका एक महत्वपूर्ण प्रावधान प्रतिबंधों (सैंक्शन्स) से संबंधित था। इसके अनुसार किसी भी आक्रमणकारी देश के खिलाफ आर्थिक

और सैनिक कारवाई करना शामिल था। इसके अनुसार सदस्य देशों को अपने यहाँ श्रमिकों की दशा और सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए वचनबद्ध किया गया। इस उद्देश्य से अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना हुई जो आज भी संयुक्त राष्ट्र संघ की एक विशेषीकृत एजेंसी है।

मगर शांति और राष्ट्रों की स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए सही अर्थों में एक विश्व संगठन बनाने की जो आशा थी, वह लीग की स्थापना से पूरी न हो सकी। दो प्रमुख देशों, जर्मनी और सोवियत संघ, को वर्षों तक इसका सदस्य बनने नहीं दिया गया। दूसरी तरफ़ भारत स्वतंत्र राष्ट्र न था, पर उसे सदस्य बना लिया गया। लीग की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका संयुक्त राज्य अमरीका ने निभाई थी, पर उसी ने अंत में इसमें न शामिल होने का फैसला किया। लीग कभी एक प्रभावशाली संगठन नहीं बन सकी। चौथे दशक में जब कुछ देशों ने अन्य देशों पर आक्रमण किए तब लीग को या तो अनदेखा किया गया या सफलतापूर्वक उसकी अवहेलना की गई।

शांति-संधियों की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी-पराजित देशों के उपनिवेशों के प्रति उसका रवैया। इसी से इन संधियों की विशेषताओं का पता चलता है कि युद्ध की लूट के बँटवारे के लिए मित्रराष्ट्रों ने आपस में अनेक गुप्त समझौते किए थे। युद्ध के साम्राज्यवादी चरित्र को सिद्ध करने के लिए सोवियत सरकार ने इन संधियों का भंडाफोड़ कर दिया। युद्ध के दौरान मित्रराष्ट्र दावा करते रहे कि यह युद्ध स्वतंत्रता और लोकतंत्र के लिए लड़ा जा रहा है। राष्ट्रपति विल्सन ने कहा था कि युद्ध "विश्व को लोकतंत्र के लिए एक सुरक्षित स्थान बनाने के लिए'' लड़ा जा रहा है। सोवियत सरकार ने जब उपर्युक्त गुप्त संधियों को प्रकाशित किया तो इन दावों की धज्जियाँ उड़ गईं। मगर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इन सब बातों के बावजूद विजेता देशों ने पराजित देशों के उपनिवेश आपस में बाँट लिए। बेशक सभी गुप्त संधियों का निषेध करने वाले सोवियत संघ को इस लूट का कोई भी भाग नहीं मिला यद्यपि रूसी सम्राट के साथ इसका वादा किया गया था। लूट की इस बंदरबाँट को राष्ट्रसंघ ने भी मान्यता दे दी। जैसाकि कहा जा चुका है, जर्मनी और तुर्की के कुछ अधिकार-क्षेत्र जिन्हें ब्रिटेन, फ्रांस और दूसरे देशों को दे दिया गया था, उन्हें "शासनादेश'' कहा गया। सिद्धांत रूप से यह "शासनादेश'' वाले क्षेत्रों का शासन वहाँ की जनता के हित में चलाना था। उन्हें राष्ट्रसंघ के प्रति उत्तरदाई भी ठहराया गया। पर वास्तव में वे इन क्षेत्रों का शासन उपनिवेशों की तरह ही चलाने लगे।

युद्ध और शांति-संधियों के परिणाम

उस समय तक जितने युद्ध हुए थे, प्रथम विश्वयुद्ध उनमें सबसे ज़्यादा विनाशकारी और भयानक था।

जैसाकि कहा जा चुका है, इसमें हुई बरबादी अभूतपूर्व थी। उस युद्ध में लड़ने वालों की संख्या विस्मयकारी थी। विभिन्न अनुमानों के अनुसार 5 करोड़ 30 लाख से लेकर 7 करोड़ तक लोग इस युद्ध में लड़े। लड़ाई में मारे गए या अन्यथा मरने वालों की संख्या 90 लाख बतलाई जाती है, जो युद्ध में भाग लेने वालों की संख्या का लगभग सातवाँ भाग है। लाखों लोग अपंग हो गए। हवाई हमलों, अकालों और महामारियों से भारी संख्या में असैनिक नागरिक मारे गये। इस भयानक जनहानि के अलावा अनेक देशों की अर्थव्यवस्थाएँ छिन्न-भिन्न हो गईं। इससे अनेक गंभीर सामाजिक समस्याएँ खड़ी हुईं। विभिन्न देशों में विकसित हो रही राजनीतिक संस्थाओं को भी धक्का लगा।

इस युद्ध तथा इसके बाद की शांति-संधियों ने दुनिया का और ख़ासकर यूरोप का नक्शा ही बदलकर रख दिया। तीन शासक वंश समाप्त हो गए। युद्ध के दौरान रूस में रोमानोव शासन नष्ट हो गया। बाद में जर्मनी में होहेनज़ोलर्न और आस्ट्रिया-हंगरी में हेब्सबर्ग के शासक वंश समाप्त हो गए। युद्ध के कुछ ही समय बाद तुर्की में उस्मानिया वंश का शासन समाप्त हो गया। आस्ट्रिया और हंगरी दो अलग-अलग स्वतंत्र राज्य बन गए। चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया स्वतंत्र देशों के रूप में उभरे। 18 वीं सदी में पोलैंड को रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया ने आपस में बाँट लिया था। अतः वह भी एक स्वतंत्र देश बनकर उभरा।

युद्ध के बाद के दौर में दुनिया में यूरोप का बोलबाला
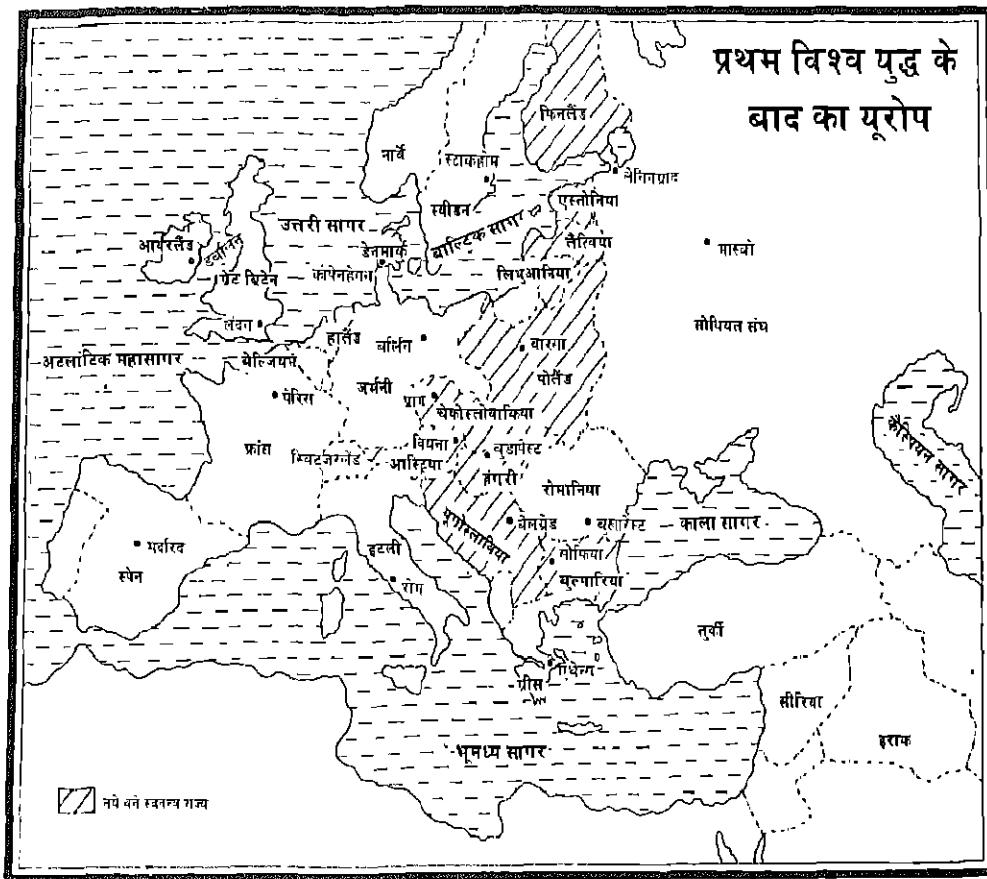
ख़त्म होना शुरू हो गया। संयुक्त राज्य अमरीका युद्ध के बाद एक विश्वशक्ति बनकर उभरा। वह आर्थिक तथा सैनिक दृष्टि से यूरोप को पीछे छोड़ गया। कुछ ही समय बाद सोवियत संघ भी एक प्रमुख विश्वशक्ति बनकर उभरा। युद्ध के पश्चात एशिया और अफ्रीका के स्वाधीनता आंदोलन भी ताकतवर बने। यूरोप के कमज़ोर होने से तथा सोवियत संघ के उदय और उसके द्वारा राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्षों को समर्थन की घोषणा से इन संघर्षों की शक्ति बढ़ी। युद्ध के दौरान मित्रराष्ट्रों द्वारा लोकतन्त्र की रक्षा के प्रचार ने तथा यूरोप की लड़ाइयों में एशियाई और अफ्रीकी सैनिकों की भागीदारी ने भी एशिया और अफ्रीका की जनता को जागृत किया। यूरोपीय देशों ने अपने उपनिवेशों के संसाधनों का उपयोग युद्ध में किया था। साम्राज्यवादी देशों द्वारा उपनिवेशों के सैनिकों तथा श्रमिकों की जबरन की गई भर्ती तथा युद्ध के लिए इन उपनिवेशों के संसाधनों के शोषण ने उपनिवेशों की जनता में क्षोभ की भावना पैदा की। औपनिवेशिक देश उपनिवेशों की जनता में इसे मिथक को प्रचारित करते आये थे कि एशिया और अफ्रीका के लोग यूरोपीय लोगों से हीन हैं। युद्ध में एक गुट के देशों के ख़िलाफ़ दूसरे गुट की विजय में एशिया और अफ्रीका के सैनिकों की जो भूमिका रही थी, उसने इस धारणा को तोड़ दिया। अनेक एशियाई नेताओं ने युद्ध-प्रयासों में इस आशा के साथ सहायता की थी कि युद्ध समाप्त होने के बाद उनके देशों को स्वतंत्र कर दिया जायेगा मगर ये आशाएँ पूरी नहीं

हुई। यूरोपीय देशों ने तो आत्मनिर्णय का अधिकार पा लिया मगर एशिया और अफ्रीका के देशों में औपनिवेशिक शासन और शोषण वैसे ही जारी रहे। इन दोनों स्थितियों का अंतर इतना स्पष्ट था कि इनसे निगाहें चूक नहीं सकती थीं। यूरोप के तथा अन्य स्थानों के मोर्चों से जब सैनिक अपने देश वापस आये तो असंतोष और नया जागरण अपने साथ लेकर आए। इन सभी कारणों से उपनिवेशों में राष्ट्रवादी आंदोलनों को बल मिला। कुछ देशों में राष्ट्रवाद की पहली हलचल युद्ध के बाद महसूस की जाने लगी।

विश्वास था कि प्रथम विश्व युद्ध भविष्य में युद्ध की सारी सम्भवानाएँ समाप्त कर देगा। पर ये बात सुनिश्चित करने में शांति-संधियाँ असफल रहीं। इसके विपरीत इन संधियों की कुछ धाराएँ ऐसी थीं जो पराजित देशों के लिए बहुत कड़ी थीं।

इन्होंने भावी युद्धों के बीज बोए। इसी तरह कुछ विजेता देशों की आशाएँ भी पूरी नहीं हुईं और उन्हें लगा कि उनको ठग लिया गया है। यह युद्ध साम्राज्यवाद को समाप्त नहीं कर सका। वास्तव में इसके बाद विजयी देशों ने अपने अधिकार क्षेत्र और भी बढ़ा लिए। जिन कारणों ने साम्राज्यवादी देशों के बीच शत्रुता और टकराव को और इस तरह युद्ध को जन्म दिया था वे वैसे ही बने रहे। इस कारण यह ख़तरा भी बना रहा कि विश्व के पुनः विभाजन के लिए एक बार फिर युद्ध का सहारा लिया जाएगा। सोवियत संघ के उदय को अनेक देशों में वहाँ की तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के लिए ख़तरा समझा जाने लगा। उसे समाप्त करने का लक्ष्य इन देशों की नीतियों को प्रभावित करने वाला एक कारण बन गया।

ये कारण और इनके साथ अगले बीस वर्षों में होने वाली कुछ घटनाओं ने मिलकर एक और विश्वयुद्ध की परिस्थिति पैदा कर दी।

अभ्यास

जानकारी के लिए

1. 19 वीं सदी के अंतिम वर्षों से 20 वीं सदी के आरंभिक वर्षों तक के काल में यूरोपीय देशों के बीच हुए टकरावों के मूलभूत कारणों की व्याख्या कीजिए।
2. त्रिगुट (ट्रिपल एलायंस) तथा त्रिदेशीय संधि (ट्रिपल आंताँ) में शामिल देश कौन-कौन से थे ? इन गुटों की स्थापना के प्रमुख उद्देश्य क्या थे ?
3. सर्व-स्लाव (पान-स्लाव) आंदोलन से क्या अभिप्राय है ? इसने रूस और आस्ट्रिया के बीच किस तरह टकराव को बढ़ाया ?
4. प्रथम विश्वयुद्ध में अमरीका के शामिल होने के कारणों की व्याख्या कीजिए।
5. जो युद्ध 1914 में भड़का उसे प्रथम विश्व युद्ध क्यों कहा जाता है ?
6. जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी और तुर्की पर प्रथम विश्वयुद्ध के जो प्रभाव पड़े, उनकी व्याख्या कीजिए।
7. राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ़ नेशंस) की स्थापना किन उद्देश्यों को लेकर हुई ?
8. 1917 की क्रांति के बाद रूस युद्ध से क्यों अलग हो गया ?

करने के लिए

1. विश्व के मानचित्र पर एशिया और अफ्रीका के उन क्षेत्रों को दर्शाइए जो विभिन्न यूरोपीय देशों के बीच टकराव के कारण बने।

2. विजेता शक्तियों के बीच विश्व का " पुन: विभाजन'' किस प्रकार हुआ ? विजेता-देशों ने पराजित देशों के जिन क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया उन्हें दशति हुए एक मानचित्र बनाइये।
3. राष्ट्रपति विल्सन के 14 सूत्रों का और युद्ध के बाद हुई शांति संधियों का अध्ययन कीजिए। एक तुलनात्मक सूची बनाकर दिखाइये कि 14 सूत्री कार्यक्रम की कौन सी बातें शांति संधियाँ में शामिल की गई और कौन-सी नहीं।

सोचने और विचार-विमर्श के लिए

1. साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धाएँ किस हद तक प्रथम विश्व युद्ध का मूलभूत कारण थीं ?
2. क्या आप सोचते हैं कि शांति-संधियों से एक न्यायपूर्ण और स्थायी शांति की बुनियाद पड़ी ? तर्क सहित उत्तर की पुष्टि कीजिए।
3. एक छोटी सी घटना एक विश्वयुद्ध के छिड़ने का कारण बन गई। कैसे ? इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।

अध्याय 3

रूस की क्रांति

बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों तक आते-आते यूरोप के अनेक देशों में समाजवाद के विचारों पर आधारित राजनीतिक आंदोलनों का उदय हो चुका था। मगर प्रथम विश्व युद्ध के छिड़ने के कारण यूरोप के अधिकांश देशों में समाजवादी आंदोलन को एक धक्का लगा। फिर भी इस काल में रूस में क्रांति अंदर ही अंदर पक रही थी। 1917 में रूस में एक क्रांति हुई, जिसने कई दशकों तक विश्व-इतिहास की दिशा को प्रभावित किया।

क्रांति से पहले रूस की परिस्थितियाँ

लगभग पूरे यूरोप में 19वीं सदी में महत्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन हुए। इनमें से अधिकांश देश फ्रांस की तरह के गणराज्य थे या इंग्लैंड की तरह के सांविधानिक राजतंत्र। पुराने सामंती अभिजातों के शासन की जगह नए मध्यवर्गों ने शासन की डोर संभाल ली थी। परंतु रूस ज़ार के शासन में अभी भी अपनी "पुरानी दुनिया" में जी रहा था। (रूसी सम्राटों को ज़ार कहा जाता था।) 1861 में कृषि-दास प्रथा का उन्मूलन हो चुका था मगर इससे किसानों की दशा नहीं सुधरी। उनकी जोतें अभी भी बहुत छोटी-छोटी थीं और उनको विकसित करने की पूँजी भी किसानों के पास न थी। उन्हें छोटी-छोटी जोतें पाने के लिए भी अनेक दशकों तक मुक्ति कर के रूप में बड़ी-बड़ी रकमें देनी पड़ीं। किसानों की 'ज़मीन की भूख' रूसी समाज का एक महत्वपूर्ण सामाजिक तथ्य था।

रूस में उद्योगीकरण का आरंभ बहुत देर से, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ। फिर इसकी गति अच्छी-ख़ासी तेज़ रही, मगर निवेश के लिए आधी से अधिक पूँजी विदेशों से आई। विदेशी निवेशकों की दिलचस्पी आसानी से मुनाफ़ा बटोरने में थी और मज़दूरों की दशा सुधारने की उन्हें कोई चिंता न थी। अपर्याप्त पूँजी होने के कारण रूसी पूँज़ीपति मज़दूरों की मज़दूरियाँ घटाकर विदेशी निवेशकों से मुकाबला करने के प्रयास करते थे। कारखाने चाहे विदेशियों के हों या रूसियों के, काम की परिस्थिति भयानक थीं। मज़दूरों को कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त न थे और न ही मामूली सुधार भी लागू करवाने के साधन उनके पास थे। मार्क्स के ये शब्द कि मज़दूरों के पास " खोने के लिए अपनी ज़ंजीरों को छोड़कर कुछ भी नहीं है'', उनको शब्दश: सही लगते थे।

ज़ारों की रूसी राजसत्ता आधुनिक युग की आवश्यकताओं से एकदम मेल नहीं खाती थी। जिस ज़ार निकोलस द्वितीय के शासन में क्रांति हुई, वह स्वयं भी राजाओं के दैवी अधिकारों में विश्वास करता था। निरंकुशतंत्र की रक्षा को वह अपना परम कर्तव्य मानता था। ज़ार के समर्थक केवल कुलीन वर्ग और पुरोहितों के ऊपरी दर्जे के लोग थे। विशाल रूसी साम्राज्य की जनसंख्या का शेष भाग उसका विरोधी था। ज़ारों ने नौकरशाही का जो ढाँचा खड़ा किया था उसमें सारे अधिकार ऊपर के लोगों के हाथों में थे। वह नौकरशाही लचकीली और कुशल न थी और इसके सदस्य किसी योग्यता के बल पर नहीं बल्कि विशेषाधिकार-प्राप्त वर्गों से चुने जाते थे।

यूरोप और एशिया की विभिन्न ज़ातियों को पराजित

करके रूसी जारों ने अपना विशाल साम्राज्य खड़ा किया था। इन जीते हुए क्षेत्रो में उन्होंने रूसी भाषा लादी तथा इन क्षेत्रों की जनता की संस्कृतियों का महत्व कम करने की कोशिश की। रूस के साम्राज्यवादी प्रसार ने उसे टकरावों में भी उलझाया और फलस्वरूप होने वाले युद्धों नें रूसी राजसत्ता के खोखलेपन को और उजागर किया।

रूस में क्रांतिकारी आंदोलनों का विकास

19 वीं सदी से पहले रूस में अनेक किसान विद्रोह हुए मगर वे सभी कुचल दिए गए। पश्चिमी यूरोप में हो रहे परिवर्तन से अनेक रूसी विचारक प्रभावित थे और वे रूस में भी वैसे ही परिवर्तन होते देखना चाहते थे। उनके प्रयासों ने कृषिदास-प्रथा के उन्मूलन में बहुत सहायता की मगर यह विजय खोखली सिद्ध हुई। एक सांविधानिक लोकतांत्रिक सरकार की दिशा में क्रमिक परिर्वतनों की आशाएँ जल्द ही टूटकर बिखर गईं और लगता था कि क्रमिक सुधार के सारे प्रयास बेकार जाएँगे। रूस में जो परिस्थितियाँ थीं उनमें एक संयत लोकतंत्रवादी या सुधारक का भी क्रांतिकारी बनना अपरिहार्य था। 19 वीं सदी के अंतिम दशकों में एक आंदोलन चला जिसका नारा था "जनता के बीच जाओ"। इस आंदोलन के दौरान बुद्धिजीवी लोग किसानों के बीच अपने विचारों का प्रचार करने लगे।

उद्योगीकरण के आरंभ के बाद जब मज़दूरों के संगठन बने तो उन पर समाजवादी विचारों का प्रभाव था। 1883 में मार्क्स के एक अनुयायी ज्यार्ज़ी प्लेखानोव ने 'रूसी सामाजिक लोकतांत्रिक पार्टी' का गठन किया। यह पार्टी 1898 में दूसरे अनेक समाजवादी गुटों से मिलकर 'रूसी सामाजिक लोकतांत्रिक मज़दूर पार्टी' बन गई। मगर संगठन और नीतियों के सवालों पर जल्द ही यह पार्टी दो टुकड़ों में बँट गई। जो भाग अल्पमत में था (अल्पमत के कारण इसे मेनशेविक कहा जाता है) वह इस प्रकार की पार्टी के पक्ष में था जैसी फ्रांस और जर्मनी में थीं और जो अपने-अपने देश के संसद के चुनावों में भाग लेती थी। मगर बहुमतवाला भाग, जो "बोल्शेविक" कहलाता था, इस मत का था कि एक ऐसे देश में, जहाँ कोई लोकतांत्रिक अधिकार न हो और जहाँ कोई संसद न हो, संसदीय सिद्धांत पर आधारित कोई पार्टी कोई परिवर्तन ला सकने में समर्थ नहीं होगी। वे ऐसे लोगों की पार्टी चाहते थे जो पार्टी के अनुशासन से बँधकर क्रांति के लिए काम करें।

बोल्शेविकों के नेता ब्लादिमीर इलिइच उल्यानोव थे जिन्हें आम तौर पर लेनिन के नाम से जाना जाता है। उन्हें मार्क्स और एंगेल्स के बाद समाजवादी आंदोलन के सबसे बड़े नेताओं में गिना जाता है। क्रांति के एक साधन के रूप में बोल्शेविक पार्टी गठित करने के काम में उन्होंने अपना जीवन लगा दिया। उनका नाम 1917 की रूसी क्रांति से एकाकार हो चुका है। प्लेखानोव और लेनिन समेत सभी रूसी समाजवादियों की प्रमुख भूमिका रही।

मेनशेविक और बोल्शेविक पार्टियों (जो औद्योगिक मजदूरों की राजनीतिक पार्टियाँ थीं) के अलावा एक 'समाजवादी क्रांतिकारी पार्टी' भी थी जो किसानों की माँगें उठाती थी। इसके अलावा रूसी साम्राज्य की ग़ैर-रूसी ज़ातियों की पार्टियाँ थीं जो औपनिवेशिक दमन से अपने-अपने क्षेत्रों की मुक्ति के लिए प्रयासरत थीं।

जब 1905 में एक क्रांति फूटी तब रूस में क्रांतिकारी आंदोलन तेज़ी से आगे बढ रहा था। 1904 में रूस और जापान के बीच एक युद्ध में रूसी फौजों को मुँह की खानी पड़ी। रूस के क्रांतिकारी आंदोलन को इससे और भी बल मिला। 9 जनवरी 1905 को जब मज़दूर अपने बीवी-बच्चों के साथ एक शांतिपूर्ण जुलूस में ज़ार को एक प्रार्थनापत्र देने उसके सेंट पीटर्सबर्ग स्थित शिशिर प्रासाद जा रहे थे तब उन पर गोलियाँ बरसाई गईं। एक हज़ार से अधिक मज़दूर मारे गए और हज़ारों अन्य घायल हुए। इस दिन को "खूनी रविवार" कहा जाता है। इस नरसंहार की ख़बर फैलने पर पूरे रूस में अभूतपूर्व उथल-पुथल आरंभ हो गई। सेना और नौसेना के कुछ भागों ने भी विद्रोह कर दिया। जंगी जहाज़ "पोतेम्किन" के नाविक भी क्रांतिकारियों से आ मिले। इस क्रांति के दौरान संगठन का एक नया रूप उभरा जो 1917 की क्रांति में निर्णायक महत्व वाला सिद्ध हुआ। इस संगठन को "सोवियत" अर्थात मज़दूरो के प्रतिनिधियों की परिषद कहा जाता है। आरंभ में ये हड़ताल चलाने वाली कमेटियाँ थी जो आगे चलकर राजनीतिक सत्ता के साधन बन गईं। किसानों की सोवियतें भी बनीं।

अक्तूबर में ज़ार को झुकना पड़ा। उसने अपना एक

1905 की क्रान्ति के दौरान एक घटना को चित्रित करने वाली आइज़ेंस्टाइन की प्रसिद्ध फिल्म "बैटलशिप पोतेम्किन" का एक दृश्य

घोषणा-पत्र सामने रखा जिसमें भाषण, प्रेस और संगठन की स्वतंत्रता दी गई तथा "दूमा" नाम की एक निर्वाचित संस्था को कानून बनाने का अधिकार दिया गया। ज़ार के इस घोषणा पत्र में ऐसे सिद्धांत शामिल थे जो रूस को भी इंग्लैंड की तरह का एक सांविधानिक राजतंत्र बना सकते थे। मगर ज़ार जल्द ही वादों से मुकर कर अपने पुराने ढर्रे पर आ गया। अब क्रमिक सुधारों की और आशा न रही। 1905 की रूसी क्रांति 1917 में होने वाली क्रांति का पूर्वाभ्यास सिद्ध हुई। इसने जनता को जागरूक बनाकर क्रांति के लिए तैयार किया। इसके कारण फ़ौजी तथा ग़ैर-रूसी जातियों के लोग रूसी क्रांतिकारियों के घनिष्ठ संपर्क में आए।

कुस्तुंतुनिया और दार्दनेल्स जलडमरूमध्य पर कब्ज़ा करने की अपनी साम्राज्यी आकांक्षा को पूरी करने के लिए ज़ार ने रूस को प्रथम विश्व युद्ध में झोंक दिया। यह उसके लिए घातक सिद्ध हुआ और रूसी निरंकुशतंत्र का अंत इसके कारण हो गया। ज़ार की राजसत्ता कोई आधुनिक युद्ध चला सकने में असमर्थ थी। राजपरिवार के नैतिक पतन ने हालत को और बिगाड़ दिया। निकोलस द्वितीय पूरी तरह अपनी पत्नी के दबाव में था जो स्वयं एक ढोंगी साधु रास्पुतिन के कहने पर चलती थी। एक तरह से सरकार यही व्यक्ति चलाता था। राज्य में व्याप्त भ्रष्टाचार ने जनता को घोर कष्ट दिए। भोजन की कमी पड़ गई। रूसी सेना की बुरी तरह हार हुई। मोर्चे पर लड़ रहे सैनिकों की दशा पर सरकार का एकदम ध्यान न था। फ़रवरी 1917 तक युद्ध में 6 लाख सैनिक मारे जा चुके थे। पूरे साम्राज्य में और सेना में भी असंतोष फैल रहा था। क्रांति के लिए स्थिति परिपक्व थी। "एक सफल क्रांति का बुनियादी नियम" सामने रखते हुए लेनिन ने इसकी दो शर्तें बतलाई थीं — "जनता पूरी तरह समझे कि क्रांति आवश्यक है और उसके लिए बलिदान देने को तैयार हो और दूसरे, मौजूदा सरकार

संकट से ग्रस्त हो ताकि उसे बलपूर्वक हटा सकना संभव हो।" 1917 में रूस में ऐसी स्थिति निश्चित ही आ चुकी थी।

क्रांति का आरंभ

छोटी-छोटी घटनाएँ अक्सर ही क्रांति भड़का देती हैं। रूसी क्रांति की शुरुआत के लिए ऐसी ही एक छोटी घटना थी — रोटी ख़रीदने के प्रयास कर रही मज़दूर औरतों का एक प्रदर्शन। फिर मज़दूरों की एक आम हड़ताल हुई जिसमें सैनिक और अन्य लोग भी शामिल हो गए। 12 मार्च 1917 को राजधानी सेंट पीटर्सबर्ग (बाद में इसका नाम पेत्रोग्राद पड़ा और फिर इसका नाम लेनिनग्राद पड़ा। सोवियत संघ के पतन के बाद पुन: इसका नाम सेंट पीटर्सबर्ग हो गया है) क्रांतिकारियों के हाथों में आ गई। क्रांतिकारियों ने जल्द ही मास्को पर भी कब्ज़ा कर लिया। ज़ार शासन छोड़ कर भाग गया और 15 मार्च को पहली अस्थायी सरकार बनी। ज़ार के प्रति रूसी जनता की नफरत के भाव को अभिव्यक्त करते हुए उसके पतन पर प्रसिद्ध कवि मायकोवस्की ने लिखा :

> "दातों से चबाए हुए चुरट के सिरे की तरह हमने
> उनके राजवंश को थूककर फेंक दिया।"

ज़ार के पतन की इस घटना को फ़रवरी की क्रांति कहा जाता है क्योंकि पुराने रूसी कैलेंडर के अनुसार यह 27 फ़रवरी 1917 को घटित हुई थी मगर ज़ार का पतन क्रांति का आरंभ-मात्र था।

जनता की सबसे महत्वपूर्ण चार माँगे थी : शांति, ज़मीन की मल्कियत जोतने वाले को, कारख़ानों पर मज़दूरों का नियंत्रण, और ग़ैर-रूसी ज़ातियों को समानता का दर्जा। अस्थायी सरकार का प्रधान केरेन्सकी नामक एक व्यक्ति था। वह इनमें से किसी भी माँग को पूरा नहीं कर सका और सरकार जनता का समर्थन खो बैठी। लेनिन फ़रवरी की क्रांति के समय स्विटज़रलैंड में निर्वासन का जीवन बिता रहे थे, वे अप्रैल मे रूस लौट आए। उनके नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी ने युद्ध समाप्त करने, किसानों को ज़मीन देने तथा "सारे अधिकार सोवियतों को देने" की स्पष्ट नीतियाँ सामने रखीं। ग़ैर-रूसी ज़ातियों के सवाल पर केवल बोल्शेविक पार्टी ही ऐसी थी जिसके पास एक स्पष्ट नीति थी।

लेनिन ने कभी रूसी साम्राज्य को "राष्ट्रों का कारागार" कहा था और यह घोषणा की थी कि सभी गैर-रूसी जनगणों को समान अधिकार दिए बिना कभी भी वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना नहीं हो सकती। उन्होंने रूसी साम्राज्य के जनगणों समेत सभी ज़नगणों के आत्मनिर्णय के अधिकार की घोषणा की।

केरेन्सकी सरकार की अलोकप्रियता के कारण 7 नवंबर 1917 को उसका पतन उस समय हो गया जबकि उसके मुख्यालय विंटर पैलेस पर नाविकों के एक दल ने कब्ज़ा कर लिया।. 1905 की क्रांति में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले लियोन त्रात्सकी मई 1917 में रूस लौट आए थे। पेत्रोग्राद सोवियत के प्रमुख़ के रूप में नवंबर के विद्रोह के वह एक प्रमुख नेता थे। उसी दिन सोवियतों की अखिल-रूसी कांग्रेस की बैठक हुई और उसने राजनीतिक सत्ता अपने हाथों में ले ली। 7 नवंबर को होने वाली इस घटना को अक्तूबर की क्रांति कहा जाता है क्योंकि उस दिन पुराने रूसी कैलेंडर के अनुसार 25 अक्तूबर की तारीख़ थी।

दूसरे दिन सोवियतों की कांग्रेस ने सभी जनगणों तथा युद्धरत राष्ट्रों के नाम एक घोषणा जारी की कि वे कब्ज़ों और हरज़ानों की माँग किए बिना एक न्यायपूर्ण शांति के लिए वार्ता चलाएँ। फिर रूस युद्ध से अलग हो गया हालाँकि जर्मनी के साथ शांति-संधि पर हस्ताक्षर कुछ समय बाद हुए और शांति की कीमत के रूप में जर्मनी द्वारा माँगे गए इलाके उसे सौंपने पड़े। ज़मीन संबंधी घोषणा के बाद भूस्वामियों, चर्च और ज़ार की ज़ागीरें ज़ब्त करके किसानों की समितियों के हवाले कर दी गईं कि वे उस ज़मीन को बिना मज़दूर रखे अपनी मेहनत से जोतने वाले किसान परिवारों के बीच आबंटित करें। उद्योगों का नियंत्रण मज़दूरों की शॉप कमेटियों के हवाले कर दिया गया। 1918 के मध्य तक बैंक और बीमा कंपनियों, बड़े उद्योगों, ख़दानों, जल-यातायात और रेलों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया, विदेशी कर्ज़े रद्द कर दिए गए और विदेशी पूँजी ज़ब्त कर ली गई। जनगण के अधिकारों संबंधी एक घोषणा ज़ारी करके सभी जातियों को आत्मनिर्णय का अधिकार दे दिया गया। लेनिन के नेतृत्व में जन-कमिसार परिषद् नाम से

केरेंस्की सरकार के पतन के बाद विंटर पैलेस का एक कक्ष

एक नई सरकार का गठन किया गया। नई सरकार के इन कार्यों को समाजवाद के युग के आरंभ के रूप में स्वागत किया गया।

अक्तूबर की क्रांति लगभग पूरी तरह शांतिपूर्ण थी। क्रांति के दिन पेत्रोग्राद में दो व्यक्ति मारे गए। मगर यह नया राज्य जल्द ही गृह-युद्ध में फँस गया। सत्ताच्युत ज़ार की सेना के कुछ अधिकारियों ने सोवियत राजसत्ता के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह छेड़ दिया। इंग्लैंड, फ्रांस, जापान, अमरीका और अन्य देशों की सेनाएँ भी उनके पक्ष में आ गईं। यह युद्ध 1920 तक चला। इस समय तक नए राज्य की "लाल सेना" (रेड आर्मी) ज़ार के पुराने साम्राज्य के लगभग सभी भागों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर चुकी थी। यह लाल सेना बुरी तरह साधनहीन थी और इसमें अधिकांशतः मज़दूर और किसान थे। फिर भी उसने अपने से बेहतर साधनों से लैस और बेहतर प्रशिक्षण-प्राप्त सेनाओं पर विजय पाई, जिस तरह अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांतियों में नागरिकों की सेनाओं ने विजय प्राप्त की थी।

◀ 7 नवम्बर 1917 को विंटर पैलेस पर धावा

क्रांति के नतीजे

स्वेच्छाचारी शासन का खात्मा तथा अभिजात वर्ग और चर्च की शक्ति का अंत क्रांति की आरंभिक उपलब्धियाँ थीं। इस क्रांति के बाद ज़ार का साम्राज्य नए राज्य में रूपांतरित हो गया। यह नया राज्य सोवियत समाजवादी गणराज्यों का संघ अथवा संक्षेप में सोवियत संघ कहलाया। इस नए राज्य द्वारा निर्धारित नीतियों का मकसद पुराने समाजवादी आदर्शों को प्राप्त करना था जिसका अर्थ यह था कि हर व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुसार काम लिया जाए और काम के मुताबिक उसे पारिश्रमिक दिया जाए। अब निजी संपत्ति उत्पादन का साधन नहीं रह गई, उसे समाप्त कर दिया गया और उत्पादन प्रणाली से व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा को भी खत्म कर दिया गया। ज़बर्दस्त सामाजिक असमानताओं के उन्मूलन के लिए, उन्नत प्रौद्योगिक अर्थव्यवस्था के तेज विकास को ध्यान में रख कर, राज्य ने आर्थिक नियोजन का रास्ता अपनाया। हर मनुष्य के लिए काम करना ज़रूरी हो गया क्योंकि

№ 208
Суббота,
28 октября 1917 г.

ИЗВѢСТІЯ

ЦѢНА:

Центральнаго Исполнительнаго Комитета

И ПЕТРОГРАДСКАГО СОВѢТА

РАБОЧИХЪ и СОЛДАТСКИХЪ ДЕПУТАТОВЪ.

Въ виду созыва въ теченіи ближайшихъ дней Второго Всероссійскаго Съѣзда Совѣтовъ Крестьянскихъ Депутатовъ, **крестьянъ-делегатовъ** пріѣхавшихъ на Второй Всероссійскій Съѣздъ Совѣтовъ Рабочихъ и Солдатскихъ Депутатовъ **просятъ остаться** для участія въ работахъ этого съѣзда.

रूसी अखबार 'इज़्वेस्तिया' में 28 अक्तूबर 1917 (पुराने रूसी पंचांग के अनुसार) को छपा लेनिन द्वारा हस्ताक्षरित भूमि संबंधी आदेश

जीविका निर्वाह के लिए बिना कमाई के पैसे का स्रोत किसी के पास नहीं रह गया। काम का अधिकार सांविधानिक अधिकार हो गया तथा रोज़गार दिलाना राज्य का कर्त्तव्य बन गया। सारी जनता को शिक्षित करने के काम को उच्च प्राथमिकता दी गई। पहले 1924 में और उसके बाद 1936 में जो संविधान तैयार किया गया, उसमें सोवियत संघ के सभी राष्ट्रों (नेशनालिटीज) को बराबरी का दर्जा दिया गया। विभिन्न राष्ट्रों के जो गणराज्य बने, अपनी भाषा और संस्कृति के विकास के लिए संविधान ने उनको पूरी स्वायत्तता प्रदान की। सोवियत संघ के एशियाई गणराज्यों के लिए ये विकास अधिक महत्त्व के थे, इसलिए कि यूरोपीय हिस्से में स्थित गणराज्यों की तुलना में एशियाई गणराज्य काफी पिछड़े हुए थे।

क्रांति के कुछ सालों के बाद ही सोवियत संघ विश्वशक्ति के रूप में उभर कर सामने आया। वहाँ जिस प्रकार की सामाजिक और आर्थिक ढाँचे की रचना हुई, उसका बहुतों ने यह कह कर स्वागत किया कि यह नई सभ्यता की शुरुआत है, वहीं कुछ अन्य लोगों ने इस व्यवस्था की निन्दा भी की। इस क्रांति के लगभग 70 सालों के बाद यह व्यवस्था बिखर गई और 1991 में राज्य के रूप में सोवियत संघ का अस्तित्व ही समाप्त हो गया (इस अध्याय में दिए गए नक्शे में उन 15 गणराज्यों को दर्शाया गया है, जिनको मिला कर 1991 के पहले का सोवियत संघ बना था)। अगले दो अध्यायों में सोवियत संघ में हुए कुछ प्रमुख परिवर्तनों के बारे में आप पढ़ेंगे और अपने उदय काल से लेकर पतन के समय तक विश्व की गतिविधियों में इन परिवर्तनों की जो भूमिका रही है, उनकी भी चर्चा इन अध्यायों में की जाएगी।

जहाँ तक विश्व में इसके प्रभाव का सवाल है, इतिहास के पन्नों पर दर्ज़ ऐसी बहुत थोड़ी घटनाएँ हैं जिनसे इस क्रांति की तुलना की जा सकती है। समाजवादी आंदोलन जिन समाजवादी विचारों की वकालत करता आ रहा था और रूसी क्रांति ने जिनको अपनाया उनके बारे में ऐसा माना गया था कि वे सारे विश्व मे चरितार्थ हो सकते हैं। रूसी क्रांति इतिहास की पहली सफ़ल क्रांति थी जिसने घोषणा की थी कि उसका लक्ष्य समाजवादी समाज की रचना करना है। इसके चलते विश्व के नक्शे के बहुत बडे भाग पर नए राज्य का गठन हुआ था, इसलिए बाकी दुनिया में इसका असर न हो, ऐसा संभव नहीं था।

सोवियत क्रांति के तत्काल बाद अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर क्रांतियों को बढ़ावा देने के लिए "कम्युनिस्ट इंटरनेशनल" का गठन हुआ (इसको "तीसरा इंटरनेशनल") अथवा "कोमिंटर्न" भी कहा जाता है) प्रथम विश्व युद्ध के समय समाजवादी आंदोलन में फूट पड़ गई थी। कई समाजवादियों

"भूमि" और "शांति" संबंधी सोवियत सरकार द्वारा ज़ारी की गई घोषणाएँ पढ़ते हुए लोग

के वामपंथी तबकों ने अब आपस में संगठित होकर कम्युनिस्ट पार्टियाँ बनाईं तथा अपने को कोमिंटर्न से संबद्ध कर लिया। अन्य देशों में भी कम्युनिस्ट पार्टियाँ गठित की गईं। इनके गठन में अक्सर कोमिंटर्न का सहयोग तथा समर्थन रहता था। इस प्रकार एक संगठन के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कम्युनिस्ट आंदोलन उठ खड़ा हुआ। यही संगठन सारी कम्युनिस्ट पार्टियों के लिए नीति तय करता था तथा वे पार्टियाँ उनके मुताबिक कार्य करती थीं।

सोवियत समाजवादी गणराज्यों का संघ*

(1991 में विघटन से पूर्व)
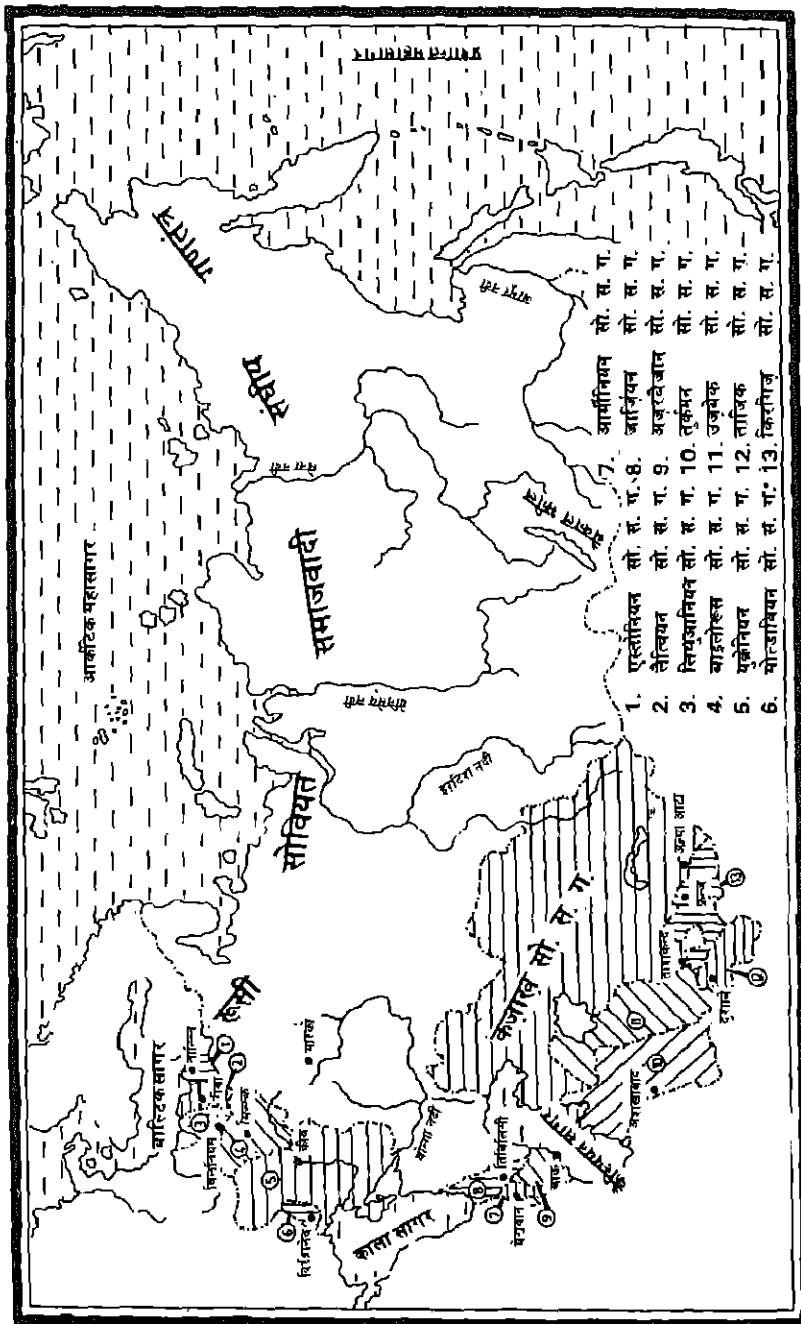
* पृष्ठ 105 पर 15 गणराज्यों के नाम दिये गये हैं।

बोल्शेविक क्रान्ति की दूसरी वर्षगाँठ के अवसर पर लेनिन

विभिन्न देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ सोवियत संघ को विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन का अगुवा मानती थीं और कोमिंटर्न की नीतियों को तय करने में सोवियत संघ की महत्वपूर्ण भूमिका थी। आमतौर पर लोगों का मानना है कि सोवियत संघ अक्सर कोमिंटर्न को अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए हथियार के रूप में इस्तेमाल करता था। बहरहाल, रूसी क्रांति के महत्वपूर्ण नतीज़ों पर निगाह डालने पर हम पाते हैं कि इसकी प्रेरणा से अनेक देशों में कम्युनिस्ट पार्टियाँ गठित की गई, जिनका मकसद क्रांति करना और एक सामान्य नीति पर चलते हुए अपना काम करना था।

कोमिंटर्न के गठन के बाद समाजवादी आंदोलन दो हिस्सों में बंट गया-समाजवादी और साम्यवादी (कम्युनिस्ट)। किस तरीके से समाजवाद कायम किया जा सकता है, और यहाँ तक कि समाजवाद की अवधारणा को लेकर इनमें काफी मतभेद थे। इन मतभेदों के बावजूद अपने उदय के कुछ दशकों के बाद ही समाजवाद एक व्यापक स्वीकृत विचारधारा के रूप में सामने आया। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद समाजवादी विचारों और आंदोलनों का प्रसार काफी बड़े पैमाने पर सामने आया और कहने की आवश्यकता नहीं कि इसका श्रेय बहुत हद तक रूसी क्रांति को जाता है।

समाजवाद की बढ़ती लोकप्रियता और सोवियत संघ की अनेक उपलब्धियों के चलते जनवाद को फिर से परिभाषित करना पड़ा। अधिकांश लोगों का समाजवाद में विश्वास नहीं था लेकिन वे भी यह मानने लगे कि जनवाद को यथार्थ रूप प्रदान करने के लिए, बिना आर्थिक और सामाजिक अधिकारों के, राजनीतिक अधिकार पर्याप्त नहीं हैं। आर्थिक और सामाजिक मामलों को पूंजीपतियों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। जनता की हालत सुधारने के लिए अर्थव्यवस्था के नियमन और नियोजन में राज्य की भूमिका के विचार को मान्यता मिल गई। रूसी क्रांति और समाजवादी आंदोलन के कारण बाइबिल का यह विचार फिर से जीवित हो उठा तथा इसे व्यापक रूप से मान्यता मिली कि "जो काम नहीं करता, वह खाएगा भी नहीं" इससे श्रम को गौरव प्राप्त हुआ।नस्ल,रंग और लिंग के आधार पर जो भेदभाव किया जाता था उसे कम करने में भी समाजवादी आंदोलन से मदद मिली।

समाजवादी विचारों के प्रसार ने अंतर्राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन दिया। कम से कम सिद्धान्त के स्तर पर ही सही, सभी राष्ट्रों ने यह महसूस किया कि दूसरे राष्ट्रों के साथ उनके संबंध मात्र स्वार्थ पर आधारित नहीं होने चाहिएँ। अनेक समस्याओं को अब तक राष्ट्रीय समस्याएँ माना जाता था, अब उन्हें पूरी दुनिया की चिंता का विषय समझा जाने लगा। सार्वभौमिकता तथा अंतर्राष्ट्रवाद जो आरंभ से ही समाजवादी विचारधारा के मूल सिद्धांत रहे हैं पूरी तरह साम्राज्यवाद के विरोधी थे। रूसी क्रांति ने साम्राज्यवाद के विनाश की प्रक्रिया को तेज़ किया। मार्क्स के अनुसार "किसी दूसरे राष्ट्र को गुलाम बनाने वाला राष्ट्र स्वयं कभी स्वतंत्र नहीं हो सकता"। पूरी दुनिया में समाजवादियों ने सम्राज्यवाद के विनाश के लिए अभियान चलाए हैं।

नए सोवियत राज्य को राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रही औपनिवेशिक जनता का मित्र समझा जाने लगा। क्रांति के बाद रूस यूरोप का एकमात्र ऐसा देश था जिसने

विदेशी शासन से सभी राष्ट्रों की स्वाधीनता के उद्देश्य का खुलकर समर्थन कि या। क्रांति के फौरन बाद सोवियत संघ ने उन असमान संधियों को रद्द कर दिया जो ज़ार ने चीन पर लाद रखी थीं। चीन के एकीकरण के संघर्ष में उसने सुनयातसेन की तरह-तरह से मदद की। रूसी क्रांति ने स्वाधीनता के आंदोलनों को भी प्रभावित किया और इस प्रभाव के कारण इन आंदोलनों ने अपने लक्ष्यों को और व्यापक बनाकर उसमें योजना-बद्ध आर्थिक विकास के द्वारा सामाजिक और आर्थिक समानता लाने का सिद्धांत भी शामिल कर लिया। अपनी "आत्मकथा" में रूसी क्रांति के बारे में लिखते हुए जवाहर लाल नेहरू ने कहा है कि "इसने मुझे राजनीति के बारे में अधिक सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से सोचने के लिए बाध्य किया।"

अभ्यास

जानकारी के लिए

1. निम्नलिखित शब्दों की व्याख्या कीजिए : बोल्शेविक, मेन्शेविक, फरवरी क्रांति, अक्तूबर क्रान्ति, खूनी रविवार, कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल, समाजवाद, उत्पादन के साधन, सोवियत।
2. 1917 की रूसी क्रान्ति के पूर्व की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का वर्णन कीजिए। प्रथम विश्वयुद्ध में रूस के भाग लेने से उत्पन्न परिस्थितियाँ किस प्रकार रूसी तानाशाही की गिरावट का कारण बनी ?
3. रूसी क्रांतिकारियों के मुख्य उद्देश्य क्या थे ?
4. अक्तूबर क्रांति का निम्नलिखित पर क्या तत्कालिक प्रभाव पड़ा ?
   (i) रूस के प्रथम विश्वयुद्ध में भाग लेने पर।
   (ii) भूमि के स्वामित्व पर।
   (iii) रूसी साम्राज्य में रहने वाली ग़ैर-रूसी जातियों की स्थिति पर।
5. रूसी क्रांति को जन्म देने वाली परिस्थितियों की संक्षेप में व्याख्या कीजिए। इसके पीछे कौन से प्रमुख विचार कार्यरत थे ?
6. एशिया के स्वतंत्रता-आंदोलनों के प्रति सोवियत संघ के दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिए।

करने के लिए

1. प्रदर्शन के लिए रूसी क्रांति से संबंधित चित्र जमा कीजिए। इन चित्रों में देखी जा रही घटनाओं तथा व्यक्तियों की भूमिकाओं का वर्णन कीजिए।
2. रूसी क्रांति से संबंधित दस्तावेज़ (जैसे भूमि और शांति संबंधी राजाज्ञाओं के पाठ) जमा कीजिए तथा बुलेटिन बोर्ड पर प्रदर्शन के लिए उनसे बयानों का चयन कीजिए।

सोचने और विचार-विमर्श के लिए

1. विश्व पर रूसी क्रांति के प्रभाव की चर्चा कीजिए।
2. इस दृष्टिकोण पर विचार-विमर्श कीजिए कि सोवियत संघ में हुए कुछ विकास समाजवाद के विचारों के अनुकूल नहीं थे।

अध्याय 4

विश्व : सन् 1919 से द्वितीय विश्वयुद्ध तक

प्रथम विश्वयुद्ध के समाप्त हुए अभी मुश्किल से बीस वर्ष बीते होंगे कि सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। यह इतिहास का सबसे विनाशकारी युद्ध था, जिससे दुनिया के हर भाग की जनता का जीवन प्रभावित हुआ। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्धों के बीच के बीस वर्ष का काल दुनिया भर में ज़बर्दस्त परिवर्तनों का दौर था। यूरोप में ऐसी अनेक घटनाएँ हुईं जिन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए उपयुक्त वातावरण बनाया। इस काल में एक व्यापक आर्थिक संकट आया जिसने दुनिया के लगभग सारे भागों और खासकर पश्चिम के सबसे उन्नत पूंजीवादी देशों को प्रभावित किया। एशिया और अफ्रीका में इस काल में एक अभूतपूर्व जन जागरण आया जिसका लक्ष्य द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पूरा हुआ। इस काल में हुए परिवर्तन और विकास द्वितीय विश्वयुद्ध को जन्म देने वाली शक्तियों और कारणों को ही नहीं बल्कि युद्ध के बाद उभरने वाले विश्व को समझने के लिए भी आवश्यक हैं। इस तरह आज के विश्व को समझने में उनका केंद्रीय महत्व है।

दोनों युद्धों के बीच यूरोप

युद्ध के कारण उत्पन्न दुर्दशा ने अनेक देशों की राजनीतिक गतिविधियों को प्रभावित किया। आप पढ़ चुके हैं कि युद्ध के अंतिम दिनों में जर्मनी में एक क्रांति हुई जिसके कारण जर्मनी का सम्राट देश छोड़कर भाग गया और जर्मनी एक गणतंत्र बन गया। गणतंत्र की घोषणा से जर्मनी के क्रांतिकारी संतुष्ट नहीं हुए और जनवरी 1919 में उन्होंने एक और विद्रोह आरंभ कर दिया परंतु विद्रोह को कुचल दिया गया। जर्मन क्रांतिकारी आंदोलन के दो नेताओं – कार्ल लाइबनेख़्ट और रोज़ा लक्ज़मबर्ग की हत्या कर दी गई। हंगरी में भी एक क्रांति हुई परंतु जो क्रांतिकारी सरकार अस्तित्व में आई वह कुछ ही महीनों बाद उलट दी गई। रूसी क्रांति से प्रेरित होकर यूरोप के अनेक दूसरे देशों में भी क्रांतियाँ हुईं जैसे फ़िनलैंड और तीन बाल्टिक राज्यों (लात्विया, एस्तोनिया और लिथुआनिया) में जो पहले रूसी साम्राज्य के भाग थे। परंतु ये सभी क्रांतियाँ कुछ ही समय के बाद कुचल दी गईं। यूरोप के दूसरे भागों में लोगों के जीवन की परिस्थितियों में सुधार लाने के लिए आंदोलन हुए। यूरोप के लगभग हर देश में राजनीतिक स्थिति जटिल थी। इस काल में यूरोप के लगभग हरेक देश में समाजवादी और कम्युनिस्ट पार्टियाँ उभरीं परंतु यूरोप के अनेक देशों में कुछ ही वर्षों में समाजवादी आंदोलन को हार का सामना करना पड़ा और वहाँ तानाशाही सरकारें सत्ता में आईं। इन सरकारों ने केवल समाजवादी आंदोलनों को ही नहीं कुचला बल्कि लोकतंत्र को भी समाप्त कर दिया। इस काल में यूरोप में तानाशाही सरकारों की स्थापना से यूरोप की जनता पर ही नहीं बल्कि पूरे विश्व पर घातक प्रभाव हुए। सबसे भयानक घटना जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद की विजय थी जिसने द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

इटली में फ़ासीवाद

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में ऐसे अनेक राजनीतिक आंदोलन हुए जिनको 'फ़ासीवादी' कहा जाता है। इन आंदोलनों की समान विशेषताएँ ये थीं : जनतंत्र और समाजवाद के प्रति शत्रुता का रवैया और तानाशाही स्थापित

करने का लक्ष्य। यूरोप के अनेक देशों जैसे हंगरी, इटली, पोलैंड, पुर्तगाल, जर्मनी और स्पेन में इन्हें सफलता मिली। इटली और जर्मनी में उनकी सफलता के बड़े घातक परिणाम हुए।

'फ़ासीवाद' (Fascism) शब्द इतालवी मूल का है। सबसे पहले इसका प्रयोग इटली में बेनितो मुसोलिनी के नेतृत्व में चले आंदोलन के लिए किया गया। 1919 में मुसोलिनी ने समाजवादियों और कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ हथियारबंद गिरोह संगठित किए थे। आप इटली के एकीकरण और उसकी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं के बारे में पढ़ चुके हैं। इटली की सरकार ने खेतिहर और औद्योगिक मज़दूरों के कल्याण में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। उनकी दुर्दशा पराकाष्ठा पर पहुँच गई। इसके विपरीत उसने उपनिवेश प्राप्त करने की आशा में इटली को प्रथम विश्वयुद्ध में झोंक दिया। युद्ध में कोई सात लाख इतालवी नागरिक मारे गए। लोगों की हालत और भी बिगड़ गई। इटली में समाजवादी आंदोलन की बढ़ती हुई शक्ति से तत्कालीन व्यवस्था को ख़तरा पैदा हो गया।

इटली के युद्ध में शामिल होने का लक्ष्य उपनिपेश प्राप्त करना था पर शांति-संधियों से उसकी महत्वाकांक्षाएँ पूरी नहीं हुईं। उस समय इटली की सरकार पर पूँजीपतियों और ज़मींदारों का प्रभुत्व था। ये वर्ग लोकतंत्र विरोधी आंदोलनों का समर्थन करने लगे, जिन्होंने उन्हें समाजवाद के ख़तरे से बचाने का और साथ ही उनकी औपनिवेशिक आकांक्षाएँ पूरी करने का भी आश्वासन दिया। मुसोलिनी का आंदोलन इसी तरह का था। ज़मींदारों और उद्योगपतियों ने उसके हथियारबंद दस्तों का इस्तेमाल समाजवादियों और कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ हिंसा के लिए किया। आतंक और हत्याओं का एक सिलसिला आरंभ हो गया परंतु सरकार ने इसे दबाने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई।

इटली में 1921 में चुनाव हुए परंतु किसी भी पार्टी को बहुमत नहीं मिला और कोई स्थाई सरकार नहीं बनाई जा सकी। मुसोलिनी के गिरोहों द्वारा फैलाए गए आतंक के बावजूद उसकी पार्टी को कुल 35 जगहें मिलीं जबकि समाजवादियों और कम्युनिस्टों को कुल मिलाकर 138 जगहें मिलीं। चुनाव में अपनी ख़राब कारगुज़ारी के बावजूद

अपने अनुयायियों के साथ रोम में मार्च करता हुआ मुसोलिनी (दाएँ से तीसरा)

मुसोलिनी खुले आम सत्ता पर कब्ज़ा करने की बात करने लगा। उसने 28 अक्तूबर 1922 को रोम की ओर एक अभियान आयोजित किया। इटली की सरकार ने मुसोलिनी के स्वयंसेवकों के ख़िलाफ़ कोई प्रतिरोध नहीं दिखाया। उल्टे इटली के सम्राट ने 29 अक्तूबर 1922 को मुसोलिनी को सरकार में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया। इस तरह एक भी गोली चलाए बिना फ़ासीवादी मुसोलिनी सत्ता के नेतृत्व में आए।

सरकार पर फ़ासीवादियों के कब्ज़े के बाद इटली में आतंक का राज्य कायम हो गया। समाजवादी आंदोलन को कुचल दिया गया। अनेक समाजवादी और कम्युनिस्ट जेलों में डाल दिए गए। 1926 में मुसोलिनी की पार्टी को छोड़कर शेष सभी पार्टियों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इटली में फ़ासीवाद की विजय ने न केवल लोकतन्त्र को नष्ट किया और समाजवादी आंदोलन का दमन किया, बल्कि युद्ध की तैयारियाँ भी आरंभ हो गईं। फ़ासीवादियों का विश्वास था कि दो या दो से अधिक राष्ट्रों के बीच मेलमिलाप नहीं रह सकता। उनका विचार था कि युद्ध मनुष्य को महान बनाता है। उन्होंने खुलकर विस्तारवाद की नीति की पैरवी की और कहा कि अपना विस्तार न करने वाले राष्ट्र बहुत दिनों तक ज़िंदा नहीं रह सकते।

इटली में फ़ासीवाद की विजय न तो किसी चुनाव में जीत का परिणाम थी और न ही किसी जन विद्रोह का। फ़ासीवादियों को इटली का शासन केवल इसलिए सौंपा गया

कि वहाँ के शासक वर्ग लोकतंत्र और समाजवाद को अपनी सत्ता के लिए ख़तरा समझने लगे थे।

जर्मनी में नाज़ीवाद

इटली में फ़ासीवादियों द्वारा सत्ता हथियाने के ग्यारह वर्षों के भीतर ही जर्मनी में नाज़ीवाद की विजय हुई। नाजीवाद फ़ासीवाद का ही जर्मन रूप था। वह मूल इतालवी फ़ासीवाद से अधिक अनिष्टकर था। एडोल्फ हिटलर के नेतृत्व में नाज़ियों ने आधुनिक युग की सबसे बर्बर तानाशाही स्थापित की।

जर्मन कलाकार काथे कोल्विट्ज द्वारा चित्रित यूरोप में बेरोज़गार लोगों की पीड़ा

आप जर्मनी के एकीकरण और प्रथम विश्वयुद्ध तक जर्मनी के इतिहास के कुछ पहलुओं के बारे में पढ़ चुके हैं। जर्मनी ने अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं को युद्ध के द्वारा पूरी करने की कोशिश की थी, पर उसे पराजय ही मिली थी। प्रथम विश्वयुद्ध के अंतिम दिनों में जर्मनी में हुई क्रांति के कारण जर्मन राजतंत्र का नाश हो चुका था। पर जर्मनी के गणतंत्र बनने के बाद भी राजतंत्र-समर्थक शक्तियाँ बहुत शक्तिशाली बनी रहीं। इन शक्तियों में उद्योगपति, बड़े जमींदार और फौजी अफसर शामिल थे। जर्मनी की गणतांत्रिक सरकार उनकी ताकत ख़त्म नहीं कर सकी। वे अपनी ताकत का विस्तार करने तथा समाजवादी आंदोलन की बढ़ती ताकत को रोकने के लिए लोकतंत्र-विरोधी शक्तियों की ओर झुके जिनका प्रतिनिधित्व नाजीवाद करता था।

'नाजीवाद' (Nazism) शब्द हिटलर द्वारा 1921 में स्थापित पार्टी नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्कर्स पार्टी – के संक्षिप्त रूप 'नाजी' से निकला है। मुसोलिनी की तरह हिटलर ने भी बर्लिन की ओर एक अभियान आयोजित करके सत्ता हथियाने की योजना बनाई परंतु उसे गिरफ़्तार करके जेल में डाल दिया गया, हालाँकि सज़ा की अवधि पूरी होने से पहले ही उसे छोड़ भी दिया गया। उसने जेल में ही अपनी पुस्तक 'मेरा संघर्ष' (Mein Kampf) लिखी जिसमें नाज़ी आंदोलन के कुछ दानवीय विचार व्यक्त किए गए। उसने बल प्रयोग, बर्बर व्यवहार और एक नेता की महानता और उसके शासन की महिमा का गुणगान किया और अंतर्राष्ट्रवाद, शांति और लोकतंत्र का मखौल उड़ाया। उसने जर्मन यहूदियों के प्रति अत्यंत घृणा का प्रचार किया और उनको प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की हार का ही नहीं बल्कि जर्मनी के सभी दोषों का कारण ठहराया। उसने हिंसक राष्ट्रवाद का महिमा मंडन तथा युद्ध का गुणगान किया। नाज़ियों के ये विचार सेना, उद्योगपतियों, बड़े ज़मींदारों और गणतंत्र-विरोधी राजनीतिज्ञों को बहुत प्रिय लगे। वह हिटलर को जर्मनी का मुक्तिदाता समझने लगे।

युद्ध में पराजय तथा वरसाइ संधि की अनुचित व्यवस्थाओं के कारण बहुत से जर्मन अपने को अपमानित महसूस कर रहे थे। नाज़ियों ने अपमान की इस भावना का लाभ उठाया। उन्होंने जनता की तंगहाली का भी फ़ायदा उठाया। युद्ध के लिए मित्रराष्ट्रों द्वारा जर्मनी से हर्जाना लिए जाने के कारण जर्मन जनता की तंगहाली बढ़ी थी। 1929 में सबसे भयानक आर्थिक संकट फूट पड़ा जिसने

दुनिया के सभी पूँजीवादी देशों को प्रभावित किया। आप इसके बारे में आगे पढ़ेंगे। इस संकट के फलस्वरूप जर्मनी के 80 लाख मज़दूर बेकार हो गये जो काम कर सकने वाली जनसंख्या का आधा भाग थे। यही वह काल था जब नाज़ी पार्टी अपना प्रभाव बढ़ाने लगी जो आरंभ में एक षड़यंत्रकारी समूह के अलावा कुछ न थी। उस समय सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी काफी शक्तिशाली थीं और उसके समर्थकों की संख्या बहुत अधिक थी। मगर ये दोनों पार्टियाँ नाज़ियों के ख़िलाफ़ एकजुट न हो सकीं।

इटली में फ़ासीवाद की विजय की ही तरह जर्मनी में नाज़ीवाद की विजय भी किसी जन विद्रोह का परिणाम न थी। यह मुसोलिनी के रोम-अभियान की तरह किसी दिखावटी बर्लिन-अभियान का परिणाम भी न थी। हिटलर के सत्ता में आने से पहले जो आख़िरी चुनाव हुए थे, उसमें नाज़ी पार्टी को समाजवादियों और कम्युनिस्टों के कुल मतों से कम मत मिले थे। उसे 650 जगहों में से केवल 196 जगहें मिली थीं। हिटलर का सत्ता में आना राजनीतिक षड़यंत्रों का परिणाम था। चुनावों में विफलता के बावजूद राष्ट्रपति ने उसे 30 जनवरी 1933 को जर्मनी का चांसलर नियुक्त कर दिया। उसके सत्ता में आने के कुछ ही सप्ताह के अंदर जर्मनी में लोकतंत्र का ढाँचा बिखर कर रह गया।

नाज़ियों का एक जुलूस, न्यूरमबर्ग, 1936

सत्ता में आने के कुछ ही समय बाद हिटलर ने नए चुनावों के आदेश जारी किए और आतंक का राज्य स्थापित कर दिया। बड़े पैमाने पर नाज़ी विरोधी नेताओं की हत्याएँ कराई गईं। 27 फरवरी 1933 को नाज़ियों ने संसद भवन (Reichstag) को आग लगा दी। अग्निकांड का दोष कम्युनिस्ट पार्टी पर लगाकर उसे कुचल दिया गया। नाज़ियों द्वारा फैलाए गए आतंक के बावजूद उनकी पार्टी को संसद में बहुमत नहीं मिल सका। फिर भी, हिटलर ने 1934 में तानाशाहाना अधिकार प्राप्त कर लिए और राष्ट्रपति भी बन बैठा। मज़दूर संघ कुचल दिए गए। हज़ारों समाजवादियों, कम्युनिस्टों और नाज़ी-विरोधी राजनीतिक नेताओं का सफ़ाया कर दिया गया। नाज़ियों ने बड़े पैमाने पर पुस्तकें जलाने का काम शुरू किया। जर्मनी तथा दूसरे देशों के श्रेष्ठतम लेखकों की कृतियाँ जला दी गईं। समाजवादियों और कम्युनिस्टों के अतिरिक्त यहूदियों को भी अपमान और हिंसा के संगठित अभियानों का शिकार बनाया गया। कुछ ही वर्षों में पूरी तरह उनका अस्तित्व समाप्त कर देने का विचार था। साथ ही सैन्यीकरण का एक विशाल कार्यक्रम शुरू किया गया और युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। नाज़ीवाद की विजय जर्मन जनता के लिए ही नहीं बल्कि संसार के अनेक दूसरे भागों के लिए भी विनाशकारी सिद्ध हुई। उसी ने दूसरे विश्वयुद्ध का आरंभ किया।

इटली और जर्मनी की फ़ासीवादी सरकारों की नीतियों और कार्यवाहियों का, जिनका परिणाम द्वितीय विश्वयुद्ध था, एक अन्य अनुच्छेद में वर्णन किया गया है।

ब्रिटेन और फ्रांस की घटनाएँ

यूरोप के दो प्रमुख देश – ब्रिटेन और फ्रांस – फ़ासीवादी आंदोलनों के सामने नहीं झुके, हालाँकि उस समय इन दोनों देशों को गंभीर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। 1921 में ब्रिटेन में 20 लाख लोग बेरोज़गार थे। मज़दूर आंदोलन मज़बूत हो चुका था। उसने काफी प्रगति

मुफ़्त रोटी के लिए नवंबर 1931 में पेरिस में बेरोज़गारों की लंबी कतार

की थी। 1924 में पहली बार लेबर पार्टी की सरकार बनी, हालाँकि वह बहुत दिनों तक टिक नहीं सकी। 1926 में ब्रिटेन के इतिहास की सबसे बड़ी हड़ताल हुई। इसमें 60 लाख मज़दूर शामिल हुए परंतु हड़ताल अंततः असफल हो गई। कुछेक वर्षों के बाद ब्रिटेन विश्वव्यापी आर्थिक संकट से बुरी तरह प्रभावित हुआ। लगभग 30 लाख लोग बेरोज़गार हो गए।

1931 में राष्ट्रीय सरकार बनी जिसमें कंज़र्वेटिव, लिबरल और लेबर पार्टियाँ शामिल हुईं। गंभीर आर्थिक समस्याओं से निबटने के लिए कुछ कदम इस सरकार ने उठाए, पर बेरोज़गारी की समस्या विकट ही बनी रही। जर्मनी में फ़ासीवाद की विजय के बाद ब्रिटेन में भी एक फ़ासीवाद आंदोलन शुरू हुआ पर वह कोई ख़ास सफलता हासिल न कर सका। ब्रिटेन लोकतांत्रिक देश बना रहा।

फ़्रांस की सरकार पर अनेक वर्षों तक बड़े बैंकरों और उद्योगपतियों का दबदबा बना रहा। सरकार को आशा थी कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अपने नियंत्रण में आए जर्मन क्षेत्रों के संसाधनों का उपयोग करके वह फ़्रांस को आर्थिक दृष्टि से मज़बूत बना सकेगी पर ये आशाएँ पूरी नहीं हुईं। फ़्रांस में राजनीतिक स्थिरता भी नहीं आ सकी। कई सरकारें सत्ता में आईं और गईं। आर्थिक संकट के कारण राजनीतिक अस्थिरता बढ़ गई और देश में भ्रष्टाचार का बोलबाला हो गया। फ़ासीवादी आंदोलन ने सर उठाया, सड़कों पर हिंसा की घटनाएँ होने लगीं। अंततः फ़ासीवादी तथा दूसरी लोकतंत्र-विरोधी शक्तियों द्वारा प्रस्तुत ख़तरे का सामना करने के लिए 1936 में समाजवादी, रैडिकल सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट पार्टियों की मिली-जुली सरकार बनी। पापुलर फ्रंट (जन मोर्चा) नाम से जानी जाने वाली यह सरकार लगभग दो वर्षों तक चली। इस काल में फ़्रांस में अनेक महत्वपूर्ण आर्थिक सुधार किए गए।

इस तरह गंभीर समस्याओं के बावजूद ब्रिटेन और फ़्रांस लोकतंत्र को बचाये रखने में सफल रहे। फिर भी, जैसा कि आप आगे चलकर देखेंगे, इन देशों की विदेश नीति यूरोप के दूसरे भागों में जनतंत्र को बनाए रखने और युद्ध को रोकने में सहायक नहीं हो सकी।

सबसे बड़ी शक्ति के रूप में संयुक्त राज्य का उदय

दुनिया पर यूरोप के दबदबे में कमी और संयुक्त राज्य अमरीका का बढ़ता हुआ महत्व प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के काल की प्रमुख विशेषता थी। वास्तव में प्रथम विश्वयुद्ध के समाप्त होने के समय तक वह दुनिया का सबसे धनी और ताकतवर देश बन चुका था। शांति-संधियों के प्रारूप तैयार करने में उसने जो महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, उसी

से यह बात स्पष्ट है। युद्ध ने यूरोपीय देशों की अर्थव्यवस्थाओं को भारी नुकसान पहुँचाया, पर इस काल में संयुक्त राज्य की अर्थव्यवस्था और भी मज़बूत हुई। उसने अपार औद्योगिक प्रगति की और यूरोप में भारी मात्रा में पूँजी लगाने लगा। इस प्रगति के बावजूद संयुक्त राज्य अक्सर गंभीर आर्थिक समस्याओं से घिरा रहा। ये समस्याएँ पूँजीवादी व्यवस्था का परिणाम थीं जिनके बारे में आप पहले ही पढ़ चुके हैं।

1929 में आरंभ होने वाले विश्वव्यापी आर्थिक संकट का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस संकट का जन्म संयुक्त राज्य अमरीका में हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के वर्षों में संयुक्त राज्य में वस्तुओं के उत्पादन में व्यापक वृद्धि हुई थी। इसके बावजूद आधी से अधिक जनता के पास जीवनयापन के न्यूनतम साधन भी न थे। अक्तूबर 1929 में पूरी अर्थव्यवस्था लड़खड़ाने लगी। न्यू यार्क की स्टाक मार्केट में गिरावट आई। शेयरों के भाव में गिरावट से इतने बड़े पैमाने पर तहलका मचा कि न्यू यार्क के स्टाक एक्सचेंज में एक ही दिन में 160 लाख शेयर बिक गए। कुछ कंपनियों में लोगों के लगे शेयरों का मूल्य एकदम समाप्त हो गया। अगले चार वर्षों में 9000 से अधिक बैंक बंद हो गए और लाखों-लाख लोगों की जीवन भर की बचत पानी में मिल गई। कारखानेदारों और कृषकों को काम में लगाने को धन नहीं मिला और जनता के पास कुछ खरीदने को पैसा न था इसलिए सामान अनबिके रह गए। इससे हज़ारों कारखाने बंद हो गए और मज़दूर बेरोज़गार हो गए। इससे जनता की क्रयशक्ति और भी घट गई तथा इस कारण और अधिक कारखाने बंद हुए तथा और अधिक लोग बेरोज़गार हुए।

इस स्थिति को आर्थिक मंदी कहते हैं। 1931 में यह मंदी यूरोप के सभी पूँजीवादी देशों तक फैलने लगी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद रूस को छोड़कर सभी यूरोपीय देशों की अर्थव्यवस्थाएँ संयुक्त राज्य की अर्थव्यवस्था, खासकर अमरीकी बैंकों, से घनिष्ठता से जुड़ चुकी थी, बल्कि उन पर निर्भर ही हो गई थी। यूरोप में मंदी के परिणाम संयुक्त राज्य की तरह ही, या कहें कि उससे भी बदतर रहे। यूरोपीय देशों के उपनिवेशों की अर्थव्यवस्थाएँ भी प्रभावित हुईं।

बड़े पैमाने पर बेरोज़गारी, उत्पादन में कमी, निर्धनता
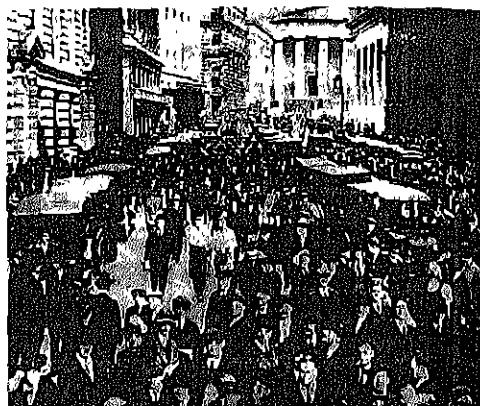
तबाही के दिन न्यू यार्क सट्टा बाजार क्षेत्र का दृश्य

और भुखमरी इस मंदी के परिणाम थे। यह मंदी सन् 1930 के पूरे दशक में जारी रही, हालाँकि 1933 के बाद प्रभावित देशों की अर्थव्यवस्थाएँ कुछ सँभलने लगी थीं। जब तक यह संकट जारी रहा, यह अत्यंत भयानक रहा तथा दुनिया में बेरोज़गारों की संख्या 5 से 10 करोड़ के बीच घटती-बढ़ती रही। अकेले दुनिया के सबसे धनी देश अमरीका में बेरोज़गारों की संख्या डेढ़ करोड़ से ऊपर थी। हज़ारों कारखाने, बैंक, व्यापारिक उद्यम ठप्प पड़ गए। औद्योगिक उत्पादन लगभग 35 प्रतिशत गिरा, बल्कि कुछेक देशों में लगभग आधा रह गया।

यह बात हैरान कर सकती है कि इस संकट का कारण अतिउत्पादन था। आप पढ़ चुके हैं कि पूँजीवाद में कारखानों और व्यापारिक उद्यमों के मालिक किस प्रकार अधिक से अधिक वस्तुओं का उत्पादन करके अपने मुनाफ़े को अधिकतम बढ़ाने के प्रयास करते हैं। अगर उत्पादन बढ़े और मज़दूरों की क्रय शक्ति कम बनी रहे तो बिना वस्तुओं के दाम गिराए उन्हें बेचा नहीं जा सकता मगर दाम नहीं गिराए जा सकते, क्योंकि इससे मुनाफ़ों पर असर पड़ता है इसलिए वस्तुएँ अनबिकी रहती हैं और कारखाने आगे उत्पादन रोकने के लिए बंद कर दिए जाते हैं। कारखाने बंद होने से लोग बेरोज़गार हो जाते हैं इससे स्थिति और बिगड़ती है, क्योंकि उत्पादित हो चुकी वस्तुएँ नहीं बिक पातीं। औद्योगिक क्रांति के फैलने के बाद लगभग हर देश

में ऐसे संकट अक्सर आते रहे हैं। मगर 1929-33 का संकट इतिहास का सबसे बुरा संकट था। इस संकट के दौरान जबकि लाखों लोग भूखों मर रहे थे, कुछ क्षेत्रों में लाखों टन गेहूँ जला दिया गया ताकि गेहूँ के भाव न गिरने पाएँ।

इस आर्थिक संकट के गंभीर राजनीतिक परिणाम हुए। आप पढ़ चुके हैं कि जर्मनी में नाज़ियों ने अपने लोकतंत्र-विरोधी कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए जनता के असंतोष का किस प्रकार दुरुपयोग किया। अनेक देशों में भूखों के मार्च आयोजित किए गए और समाजवादी आंदोलन ने आर्थिक प्रणाली में दूरगामी परिवर्तन लाने के लिए ज़ोर दिया ताकि ऐसे संकट फिर से न आएँ। 1929-33 के आर्थिक संकट से प्रभावित न होने वाला अकेला देश सोवियत संघ था।

इस आर्थिक संकट ने संयुक्त राज्य की अर्थव्यवस्था पर सबसे बुरा प्रभाव डाला। इसके कारण डेमोक्रेटिक पार्टी की विजय हुई और 1933 में फ्रैंकलिन डी. रूज़वेल्ट अमरीका के राष्ट्रपति बने। उनके नेतृत्व में अर्थिक पुनर्रचना और सामाजिक कल्याण का एक कार्यक्रम आरंभ हुआ। इस कार्यक्रम को 'नई पेशकश' (न्यू डील) कहा जाता है। मज़दूरों की दशा सुधारने और रोज़गार पैदा करने के उपाय किए गए। 'नई पेशकश' के फलस्वरूप संयुक्त राज्य की अर्थव्यवस्था संकट से उबरी और औद्योगिक उत्पादन फिर से बढ़ चला। फिर भी 1939 में अमरीका में 90 लाख लोग बेरोज़गार पड़े थे।

एक शक्तिशाली देश के रूप में संयुक्त राज्य की स्थिति बनी रही मगर उसकी विदेश नीति ब्रिटेन और फ्रांस की विदेश नीति से बहुत अलग न थी। ब्रिटेन और फ्रांस की तरह उसने भी फासीवादी शक्तियों की आक्रामक गतिविधियों के प्रतिरोध के लिए कड़ा रुख तब तक नहीं अपनाया जब तक कि उसे द्वितीय विश्वयुद्ध के आरंभ होने के बाद खुद युद्ध में शामिल नहीं होना पड़ा।

सोवियत संघ का उदय

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के काल में सोवियत संघ प्रमुख शक्ति के रूप में उभरा और विश्व के मामलों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगा। ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्त राज्य द्वारा प्रति-क्रांतिकारी शक्तियों की सहायता के लिए रूस में सैनिक हस्तक्षेप का पहले ही ज़िक्र किया जा चुका है। 1920 तक प्रति-क्रांतिकारी शक्तियों की हार हो चुकी थी और विदेशी फौजों को खदेड़ कर बाहर कर दिया गया था।

प्रथम विश्वयुद्ध में रूस की भागीदारी और क्रांति के बाद गृहयुद्ध तथा विदेशी हस्तक्षेप के लंबे काल ने देश की अर्थव्यवस्था को पूरी तरह तहस-नहस कर डाला था। यह जनता के लिए अत्यधिक आर्थिक कष्ट का काल था। भोजन की भयानक कमी थी। औद्योगिक वस्तुओं का उत्पादन युद्ध-पूर्व के स्तर से बहुत नीचे चला गया था। इस भयानक अभाव के दौर में वस्तुओं के वितरण को न्यायोचित बनाने के लिए कुछ कठोर उपाय अपनाए गए। किसानों से उनकी अपनी आवश्यकताओं से अधिक पैदावार ले ली जाती थी। इस अधिक पैदावार को बाज़ार में बेचने की अनुमति उन्हें नहीं थी। वेतन का नकद भुगतान बंद कर दिया गया और इसकी बजाय वेतन खाद्यपदार्थों तथा कारखानों के माल आदि के रूप में दिया जाने लगा। इन उपायों के कारण किसानों तथा समाज के दूसरे वर्गों में असंतोष फैला, पर उन्हें क्रांति की रक्षा के लिए अपरिहार्य मान लिया गया। गृहयुद्ध की समाप्ति के बाद ये उपाय समाप्त कर दिए गए और 1921 में 'नई आर्थिक नीति' की घोषणा की गई। इस नीति के अंतर्गत किसानों को खुले बाज़ार में अपनी पैदावार को बेचने की छूट दी गई, वेतन का नकद भुगतान फिर से आरंभ हुआ और निजी नियंत्रण वाले कुछ उद्योगों को वस्तुओं के उत्पादन और विक्रय की अनुमति दी गई। कुछ वर्षों बाद 1929 में सोवियत संघ ने जब अपनी पहली पंचवर्षीय योजना का आरंभ किया तो आर्थिक पुनर्रचना और औद्योगीकरण का एक ज़ोरदार कार्यक्रम आरंभ हुआ। कुछेक वर्षों में ही सोवियत संघ प्रमुख औद्योगिक शक्ति के रूप में उभरा। सोवियत संघ ने जो व्यापक आर्थिक प्रगति की, वह भारी कठिनाइयों के बीच हुई। हालाँकि विदेशी हस्तक्षेप समाप्त हो चुका था, फिर भी यूरोप के अनेक देश और संयुक्त राज्य क्रांति को नष्ट करने के लिए आर्थिक बहिष्कार की नीति अपना रहे थे तो भी सोवियत संघ न केवल सही-सलामत रहा, बल्कि तेज़ गति से आर्थिक प्रगति भी करता रहा। जैसा कि कहा जा चुका है, वह 1929-33 के आर्थिक संकट से अप्रभावित अकेला देश था। उल्टे, जबकि पश्चिम में लाखों लोग बेरोज़गार थे और हजारों कारख़ाने

ठप्प पड़े थे, सोवियत संघ का औद्योगिक विकास पहले की तरह जारी रहा।

कृषि में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। क्रांति के बाद ज़मींदारों, चर्च और कुलीन वर्ग की जागीरें ज़ब्त करके किसानों में बाँट दी गई थीं। कुल लगभग ढाई करोड़ जोतें थीं, जिनमें से अधिकांश बहुत छोटी थीं। ये छोटी जोतें बहुत उत्पादक नहीं समझी जाती थीं। उत्पादन बढ़ाने के लिए ट्रैक्टरों और दूसरी खेती की मशीनों का उपयोग आवश्यक समझा गया। यह माना गया कि यह तभी संभव होगा जब जोतों का आकार बड़ा हो, इसके लिए सरकार ने अपने फार्म खोले। इसके अलावा उसने किसानों की छोटी जोतें मिलाकर सामूहिक फार्मों को प्रोत्साहन देने की नीति अपनाई। इन फार्मों में किसानों का व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रहता था और किसान एक साथ मिलकर इन 'सामूहिक फार्मों' पर काम करते थे। सरकार ने सामूहिक खेती की नीति ज़ोर-शोर से चलाई और 1937 तक जोतने योग्य लगभग सारी जमीन सामूहिक फार्मों में बदल चुकी थी। आरंभ में किसानों को सामूहिक फार्मों में शामिल होने या न होने का फैसला करने की स्वतंत्रता थी। बाद में उन्हें इनमें शामिल होने के लिए मजबूर किया गया। धनी किसानों ने सामूहिक खेती का विरोध किया। उनके साथ सख़्ती से पेश आया गया। खेती को सामूहिक रूप देने की इस प्रक्रिया में बहुत अत्याचार हुए। अनुमान के अनुसार इस काल में लाखों लोग मारे गए। इस तरह जहाँ ज़मींदारों का दमन समाप्त किया गया, वहीं खेती के नये रूप का समावेश भी गंभीर समस्याओं और दमन से ख़ाली नहीं था। उद्योगों में भी जहाँ पूँजीपतियों के मुनाफ़े के लिए वस्तुओं का उत्पादन बंद हो गया और देश का तेज़ गति से औद्योगीकरण हुआ, वहीं रोज़मर्रा की आवश्यकता की वस्तुओं के उत्पादन को अनदेखा किया गया।

1917 में क्रांति के प्रमुख केंद्र रूस में थे। बाद के वर्षों में पुराने रूसी साम्राज्य के अनेक दूसरे भागों में भी क्रांति का प्रसार हुआ और ग़ैर-रूसी जातियों वाले क्षेत्रों में भी बोल्शेविक पार्टी और उसके समर्थकों की सरकारें बनीं। 1922 में इन सभी क्षेत्रों को औपचारिक रूप से एकीकृत करके सोवियत समाजवादी गणतंत्र संघ (संक्षेप में सोवियत संघ) का गठन किया गया जो अनेक गणराज्यों का एक संघ था। 1922 में सोवियत संघ में शामिल गणराज्यों की संख्या पाँच थी। 1936 में एक नया संविधान लागू किए जाने के समय उनकी संख्या ग्यारह थी। बाद में सोवियत संघ में सोवियत समाजवादी गणराज्यों की संख्या 15 हो गई।

1924 में लेनिन की मृत्यु के बाद अपनाई जाने वाली नीतियों को लेकर शासक कम्युनिस्ट पार्टी में अनेक गंभीर मतभेद उभरे जो अस्तित्व में रहने वाली अकेली राजनीतिक पार्टी थी। विभिन्न समूहों और अलग-अलग नेताओं के बीच सत्ता के लिए गंभीर संघर्ष भी चल रहे थे। इस संघर्ष में स्तालिन की विजय हुई। 1927 में त्रात्स्की को, जिसने क्रांति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी और लाल सेना का संगठन किया था, कम्युनिस्ट पार्टी से निकाल दिया गया। 1929 में उसे निर्वासित कर दिया गया। 1930 के दशक में लगभग वे सभी नेता ख़त्म कर दिए गए, जिन्होंने क्रांति में और उसके बाद के वर्षों में महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाई थीं। उनके ख़िलाफ़ झूठे आरोप लगाए गए और दिखावटी मुकद्दमों के बाद उन्हें फाँसी दे दी गई। राजनीतिक लोकतंत्र तथा भाषण और प्रेस की स्वतंत्रता नष्ट हो गई। पार्टी के अंदर भी मतभेदों की अभिव्यक्ति को बर्दाश्त नहीं किया जाता था। स्तालिन, कम्युनिस्ट पार्टी का महासचिव था, उसने तानाशाही अधिकार प्राप्त कर लिए और 1953 में अपनी मृत्यु तक तानाशाही व्यवहार करता रहा। इन घटनाओं का सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और इसमें ऐसी विशेषताएँ उभरीं जो मार्क्सवाद और क्रांति के मानवतावादी आदर्शों के विपरीत थीं। स्वतंत्रता के सीमित हो जाने के कारण कला और साहित्य के विकास पर भी विपरीत प्रभाव पड़ा।

अधिकांश यूरोपीय शक्तियों और संयुक्त राज्य ने लंबे समय तक सोवियत संघ को मान्यता नहीं दी। आप पहले पढ़ चुके हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर आयोजित शांति सम्मेलन में या लीग ऑफ़ नेशन्स (राष्ट्रसंघ) में उसे प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था। वह अपने से खुली दुश्मनी रखने वाले देशों से घिरा रहा फिर भी उसकी बढ़ती शक्ति के कारण उसे अनदेखा नहीं किया जा सका और एक के बाद दूसरे देश ने उसे धीरे-धीरे मान्यता दे दी। ब्रिटेन

ने 1933 में सोवियत संघ के साथ राजनयिक संबंध स्थापित किए। 1934 में वह राष्ट्रसंघ का भी सदस्य बना। लेकिन सोवियत संघ का अलगाव समाप्त होने के बावजूद उसके प्रति दुश्मनी जारी रही। सोवियत संघ स्वाधीनता आंदोलनों के समर्थन की नीति पर चल रहा था। इस संदर्भ में चीन को दी गई सहायता उल्लेखनीय है। जब फ़ासीवादी देशों ने आक्रामक गतिविधियाँ आरंभ कीं तो सोवियत संघ ने उनके खिलाफ़ कार्रवाई करने पर जोर दिया। मगर पश्चिमी देशों ने सोवियत प्रस्ताव को नहीं माना। वे सोवियत संघ को अपने लिए खतरा मानते रहे और आशा करते रहे कि फासीवादी देश उसे नष्ट कर देंगे। सोवियत संघ के प्रति अपनी शत्रुता के कारण उन्होंने फ़ासीवादी शक्तियों के तुष्टीकरण की नीति अपनाई और इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध का मार्ग प्रशस्त किया।

एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रवादी आंदोलन

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद के दौर में एशिया और अफ्रीका की जनता के स्वतंत्रता-आंदोलन मज़बूत हुए। जैसाकि कहा जा चुका है, एशिया और अफ्रीका के स्वतंत्रता-आंदोलनों के अनेक नेताओं ने मित्र राष्ट्रों के युद्ध प्रयासों में इस आशा से सहयोग दिया था कि युद्ध समाप्त होने के बाद उनके देश को स्वतंत्रता मिलेगी, या कम-से-कम उन्हें अधिक अधिकार मिलेंगे। उनकी आशाएँ धूल में मिल गईं। साम्राज्यवादी नेताओं ने स्पष्ट कर दिया कि युद्ध के काल में स्वतंत्रता और लोकतंत्र के जो नारे उन्होंने दिए थे, वे उपनिवेशों के लिए नहीं थे। मगर युद्ध ने साम्राज्यवादी देशों को कमज़ोर किया था तथा औपनिवेशिक जनता के जागरण में योगदान दिया था। युद्ध के बाद उनके स्वतंत्रता-संघर्षों का एक नया चरण आरंभ हुआ। सोवियत संघ के समर्थन ने उनके स्वतंत्रता आंदोलनों को और भी मज़बूत बनाया था। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देश हालाँकि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही स्वतंत्र राष्ट्र बन सके, परंतु साम्राज्यवाद प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद ही काफी कमज़ोर पड़ गया था।

भारत में यह वह काल था जब स्वतंत्रता आंदोलन महात्मा गाँधी के नेतृत्व में जन-आंदोलन बन गया। आप इसके बारे में विस्तार से आगे पढ़ेंगे। एशिया के अनेक देशों ने स्वतंत्रता-प्राप्ति की दिशा में महत्वपूर्ण प्रगति की। आप पढ़ चुके हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध से पहले ईरान को रूसी और ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्रों में बाँट दिया गया था। 1917 की क्रांति के बाद सोवियत सरकार ने अपने प्रभाव-क्षेत्र का नियंत्रण छोड़ दिया और अपनी पूरी सेना वहाँ से हटा ली। मगर अंग्रेजों ने पूरे देश को अपने प्रभाव में लाने की कोशिश की। इसके विरुद्ध वहाँ एक व्यापक विद्रोह हुआ। 1921 में रजा खान ने सत्ता छीन ली और वह 1925 में सम्राट बन गया। ब्रिटिश फौजों ने ईरान छोड़ दिया और ईरान का आधुनिकीकरण आरंभ हुआ।

ब्रिटिश सरकार ने उन्नीसवीं सदी में अफ़ग़ानिस्तान के खिलाफ़ अनेक लड़ाइयाँ लड़ी थीं। इन लड़ाइयों के फलस्वरूप अफ़ग़ानिस्तान की स्वतंत्रता में कटौती हो गई थी। अफ़ग़ानिस्तान के विदेशों से संबंधों का नियत्रंण अंग्रेजों के हाथ में चला गया था। 1919 में अफ़ग़ानिस्तान के राजा की हत्या हो गई और उसका बेटा अमानुल्लाह राजा बना। अमानुल्लाह ने अफ़ग़ानिस्तान की स्वतंत्रता की घोषणा की। सोवियत संघ ने अफ़ग़ानिस्तान की स्वतंत्रता को तत्काल मान्यता दी। भारत की ब्रिटिश सरकार ने नई अफ़ग़ान सरकार के खिलाफ़ युद्ध छेड़ दिया, पर अंत में ब्रिटेन को अफ़ग़ानिस्तान की स्वतंत्रता को मान्यता देनी पड़ी। अमानुल्लाह की सरकार ने अफ़ग़ानिस्तान के आधुनिकीकरण की ज़ोरदार कोशिशें कीं।

अरब देशों में ब्रिटेन और फ्रांस के खिलाफ़ उभार जारी था। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रों ने अरब जनगण को उस्मानी (तुर्की) शासकों से लड़ने के लिए कहा था। मगर युद्ध की समाप्ति के बाद अरब देशों को स्वतंत्रता नहीं मिली। इन देशों में तेल का विशाल भंडार है, यह पता चलने के बाद इनका महत्व और भी बढ़ गया। ब्रिटेन और फ्रांस ने इन देशों को संरक्षित राज्य (प्रोटेक्टरेट) बनाकर या उनके लिए शासनादेश (मैंडेट) प्राप्त करके उन पर अपना नियंत्रण कायम कर लिया था। मिस्र में ब्रिटेन के खिलाफ़ विद्रोह हुए और ब्रिटेन 1922 में मिस्र को स्वतंत्रता देने के लिए बाध्य हो गया हालाँकि वहाँ ब्रिटिश फ़ौजें बनी रहीं।

युद्ध के बाद सीरिया फ्रांस को दे दिया गया। मगर आरंभ से ही फ्रांस को वहाँ कड़े विरोध का सामना करना पड़ा।

1925 में एक खुला विद्रोह फूट पड़ा और फ्रांसीसी सरकार ने आतंक-राज का सहारा लिया। विद्रोह के केंद्र दमिश्क शहर को फ्रांसीसी सेनाओं ने बमबारी करके या तोपों के गोले बरसाकर खंडहर बना दिया। दमिश्क की बमबारी और गोला-बारी में लगभग 25,000 लोग मारे गए मगर इस भयानक नरसंहार के बावजूद फ्रांसीसी शासन के खिलाफ़ प्रतिरोध जारी रहा।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जनगणों में जो जागृति आई थी उसके संदर्भ में एक महत्वपूर्ण घटना तुर्की की क्रांति थी। आप पढ़ चुके हैं कि उस्मानी साम्राज्य का 19 वीं सदी में विघटन आरंभ हुआ और प्रथम विश्वयुद्ध में तुर्की की हार के बाद यह विघटन पूरा हो गया। इस बीच उस्मानी साम्राज्य के अधीन रहने वाले अनेक राष्ट्र स्वतंत्र हो गए। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अरब साम्राज्य के क्षेत्र ब्रिटेन और फ्रांस को शासनादेश के द्वारा दे दिए गए। ये दोनों तुर्की पर ही कब्ज़ा करके उसके कुछ हिस्से यूनान और इटली को देना चाहते थे। मित्रराष्ट्रों ने तुर्की के साथ जो व्यवहार किया उसके कारण भारत में ब्रिटेन के खिलाफ़ गुस्से की एक लहर दौड़ पड़ी। इसे ही खिलाफ़त आंदोलन कहा जाता है। यह आंदोलन भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन का अंग बन गया।

तुर्की में राष्ट्रवादी आंदोलन मित्रराष्ट्रों को देश के कुछ भागों पर कब्ज़ा करने तथा उसके हिस्से यूनान और इटली को देने के फैसले के खिलाफ़ चलाया गया था। तुर्की का सुल्तान मित्रराष्ट्रों द्वारा रखी हुई शर्तों को मान चुका था। पर सुल्तान संधि पर हस्ताक्षर कर सकें, इससे पहले ही मुस्तफ़ा कमाल के नेतृत्व में एक राष्ट्रीय सरकार बन गई जिसका मुख्यालय अंकारा में था। इस सरकार ने सोवियत संघ के साथ एक मैत्री संधि पर हस्ताक्षर किए , जिसके अनुसार उसे राष्ट्रवादी उद्देश्यों के लिए सोवियत संघ से राजनीतिक समर्थन और हथियार मिले। सुल्तान के साथ संधि के बाद यूनान ने तुर्की पर हमला कर दिया। कमाल के नेतृत्व में तुर्की की जनता हमले को नाकाम करने में कामयाब रही। मित्रराष्ट्र पहले की संधि को रद्द करने के लिए मज़बूर हो गए। तुर्की की धरती से मित्रराष्ट्रों की सेनाएँ वापस बुला ली गईं और यूरोपीय देश जिन क्षेत्रों को हड़पना चाहते थे, वे तुर्की के पास ही रहे। इस तरह तुर्की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने में सफल रहा।

पूर्ण रूप से स्वतंत्र होने के बाद तुर्की में आधुनिकीकरण का तथा प्रतिक्रियावादी-सामंती तत्वों के प्रभाव समाप्त करने का एक कार्यक्रम आरंभ किया गया। तुर्की को गणराज्य घोषित किया गया। तुर्की के सुल्तान की पदवी ख़लीफ़ा भी थी। नई सरकार ने ख़लीफ़ा का पद समाप्त कर दिया। धार्मिक नेताओं के हाथों से शिक्षा का कार्य ले लिया गया। धर्म को राज्य से अलग कर दिया गया।

तुर्की की क्रांति एशिया के स्वतंत्रता-आंदोलनों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गई। उसने समाज सुधार तथा आधुनिकीकरण के विचारों को बढ़ावा देने में सहायता पहुँचाई।

एशिया के हरेक भाग में स्वतंत्रता आंदोलन मज़बूत हुए। उदाहरण के लिए, इंडोनेशिया में डच शासन के विरुद्ध विद्रोह हुए। वहाँ स्वतंत्रता प्राप्ति के उद्देश्य से 1927 में नेशनल पार्टी का गठन किया गया। कोरिया में जापान से स्वतंत्रता के लिए आंदोलन चल रहा था। हिंदचीन, बर्मा (अब म्यामार) और दूसरे देशों में स्वतंत्रता आंदोलन मज़बूत हुए।

इस काल के सबसे शक्तिशाली आंदोलनों में से एक का आरंभ चीन में हुआ। आप चीन पर साम्राज्यवादी प्रभुत्व के बारे में पढ़ चुके हैं। चीन में 1911 में एक क्रांति हुई। फलस्वरूप वहाँ गणतंत्र की स्थापना हुई परंतु सत्ता अधिपति (वारलार्ड) कहलाने वाले भ्रष्ट शासकों के हाथों में चली गई। चीन के राष्ट्रीय आंदोलन का उद्देश्य था – विदेशी प्रभुत्व की समाप्ति और अधिपतियों के शासन को समाप्त करके चीन का एकीकरण। चीन के राष्ट्रीय आंदोलन के संस्थापक डा. सुन यात-सेन थे। उन्होंने 1911 की क्रांति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और 1917 में दक्षिणी चीन में स्थित कैंटन शहर में सरकार की स्थापना की। उनके द्वारा स्थापित कोमिनतांग नामक पार्टी ने वर्षों तक चीन के राष्ट्रीय संघर्ष का नेतृत्व किया।

चीन पर रूस की क्रांति का गहरा असर पड़ा। रूस की नई सरकार ने वे सभी असमानतापूर्ण संधियाँ रद्द कर दीं जो उस पर रूसी सम्राटों ने लादी थीं। इसके अलावा उसने
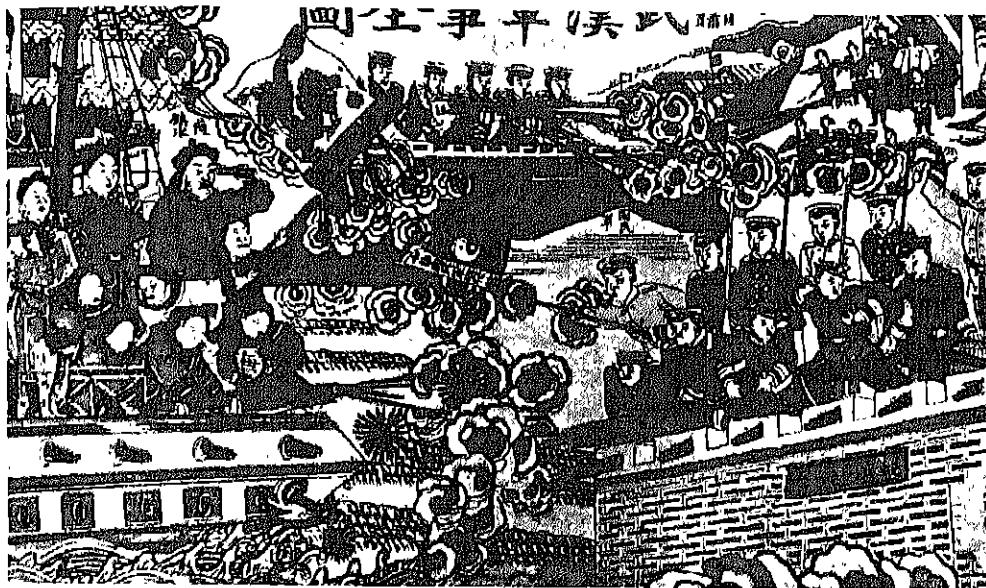
1911 की क्रांति के दौरान सैनिकों के विद्रोह का काष्ठचित्र। इस क्रांति से मांचू शासन का अंत हो गया था।

चीन के राष्ट्रीय संघर्ष को पूर्ण समर्थन देने का वादा किया। 1921 में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। 1924 में कोमिनतांग और कम्युनिस्ट पार्टी ने मिलकर काम करने का फ़ैसला किया। सोवियत सरकार ने तरह-तरह की सहायताएँ दीं जिनमें एक क्रांतिकारी सेना का प्रशिक्षण भी शामिल था।

अनेक सोवियत राजनीतिक और सैनिक सलाहकारों ने चीन के मुक्ति आंदोलन के लिए साथ मिलकर काम किया। 1925 में सुन यात-सेन की मृत्यु के बाद कोमिनतांग और कम्युनिस्ट पार्टी की एकता भंग हो गई और गृहयुद्ध आरंभ हो गया। 1930 के दशक में पूरे चीन पर कब्ज़ा करने के उद्देश्य से जापानियों ने उस पर हमला किया। तब जापानी हमले का सामना करने के लिए दोनों पार्टियों ने साथ काम करने का फैसला किया। जापानी हमले के ख़िलाफ़ इस प्रतिरोध-युद्ध में कम्युनिस्ट पार्टी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वह देश में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने में सफल रही। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के कुछ ही वर्षों के अंदर वह गृहयुद्ध में विजयी बनकर निकली।

इस काल में अफ्रीका में भी राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ। अफ्रीका में राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष में तेज़ी द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही आई, परंतु 1920 और 1930 के दशकों में आरंभिक राजनीतिक संगठनों की बुनियाद पड़ चुकी थी। अनेक अखिल-अफ्रीकी (पैन-एफ्रीकन) कांग्रेसों ने अफ्रीका में राजनीतिक चेतना के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अखिल-अफ्रीकी (पैन-अफ्रीकन) आंदोलन ने अफ्रीकी जनता की अस्मिता और एकता तथा अफ्रीका की स्वतंत्रता पर ज़ोर दिया। दक्षिण अफ्रीका में अफ्रीका के दूसरे भागों की अपेक्षा राष्ट्रीय आंदोलन का उदय पहले हुआ। 1912 में अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई और वह दक्षिण अफ्रीकी जनता का प्रमुख संगठन बन गई। 1935-36 में इथियोपिया की जनता ने इतालवी हमले का जमकर मुकाबला किया और उनका प्रतिरोध अफ्रीका के दूसरे जनगणों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गया।

एशिया और अफ्रीका के जनगणों का राष्ट्रीय जागरण और उनके स्वतंत्रता संघर्षों की बढ़ती शक्ति आधुनिक विश्व के निर्माण में बहुत महत्वपूर्ण तत्व है। दीर्घकाल से उत्पीड़ित

इन दोनों महाद्वीपों के जनगण स्वतंत्रता के अपने अधिकार पर ज़ोर देने लगे थे पर इसी समय यूरोप में एक और युद्ध की तैयारियाँ चल रही थीं।

फ़ासीवादी आक्रमण का आरंभ

1930 के दशक में फ़ासीवादी शक्तियों ने अपने विजय-युद्ध आरंभ किए। इटली और जर्मनी प्रमुख फ़ासीवादी देश थे। जापान में जो सैन्यवादी सरकार सत्ता में आई वह भी उनकी सहयोगी बन गई। इटली और जर्मनी में फ़ासीवाद की विजय का वर्णन पहले किया जा चुका है। आप जापानी साम्राज्यवाद के उदय, चीन और रूस से उसके युद्धों, कोरिया पर उसकी विजय तथा प्रथम विश्वयुद्ध के बाद चीन में जर्मनी के प्रभाव-क्षेत्रों के जापान के हाथों आने के बारे में पहले ही पढ़ चुके हैं। जापान की सरकार धीरे-धीरे सैन्यवादियों के हाथों में आ गई। इन तीन देशों ने यूरोप, एशिया और अफ्रीका में एक के बाद एक हमले शुरू किए। ये सभी शक्तियाँ कम्युनिज़्म से लड़ने के दावे करती थीं और उन्होंने 1937 में कोमिंटर्न-विरोधी एक गठजोड़ कायम कर लिया। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, कोमिन्टर्न कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का संक्षिप्त रूप है जिसकी स्थापना रूसी क्रांति के बाद हुई थी और जिससे विभिन्न देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ संबद्ध थीं। जर्मनी, इटली और जापान को धुरी-शक्तियों के नाम से जाना गया।

जब आक्रामक कार्यवाहियाँ आरंभ हुई तब आक्रमण के शिकार देशों, सोवियत संघ तथा दुनिया के विभिन्न देशों के अनेक नेताओं ने आक्रमण को असफल बनाने के लिए सामूहिक कार्यवाहियों की माँग की। 1935 में कम्युनिस्ट इंटरनेशलन ने यह विचार सामने रखा कि फ़ासीवाद और युद्ध के ख़तरों का मुकाबला करने के लिए कम्युनिस्टों, समाजवादियों और दूसरे फ़ासीवाद-विरोधियों को साथ लेकर जन मोर्चे बनाए जाएँ। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जर्मनी में हिटलर सत्ता में इसी कारण आ सका था कि जर्मनी की कम्युनिस्ट और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियाँ नाज़ियों के ख़िलाफ़ एकजुट नहीं हो सकी थीं। फ़ासीवाद-विरोधी शक्तियों को एकजुट करने को कोमिंटर्न की वकालत के बाद अनेक देशों में जन मोर्चों की स्थापना हुई। फ्रांस में सत्ता पर फ़ासीवादियों का कब्ज़ा रोकने

हिटलर और मुसोलिनी

में लोकप्रिय जनमोर्चा सफल रहा। जन मोर्चे की इस नीति का उपनिवेशों में भी विभिन्न साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों की एकता पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। उसने फ़ासीवाद द्वारा प्रस्तुत ख़तरे के ख़िलाफ़ विश्वव्यापी चेतना जगाई और फ़ासीवादी आक्रमण के शिकार देशों के लिए समर्थन जुटाने में सहायता की। इस समय कोमिंटर्न के नेता बुल्गारी कम्युनिस्ट ज्यार्जी दिमित्रोव थे। वे 1933 में संसद को आग लगाए जाने की घटना के बाद नाज़ियों द्वारा जर्मन कम्युनिस्टों के साथ गिरफ़्तार किए गए थे। मुकदमे के दौरान उनके साहसिक भाषणों ने उन्हें विश्वव्यापी प्रशंसा दिलाई और बाद में वे छोड़ दिए गए।

आप पहले पढ़ चुके हैं कि राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशंस) की प्रसंविदा (कोवेनेंट) में आक्रमण के विरुद्ध आर्थिक और सैनिक प्रतिबंधों और सामूहिक कार्रवाई की व्यवस्था थी। मगर आक्रामकों का सामना करने की बजाय पश्चिमी देशों की सरकारों ने आक्रामक शक्तियों के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाई। तुष्टीकरण का अर्थ है किसी आक्रामक शक्ति
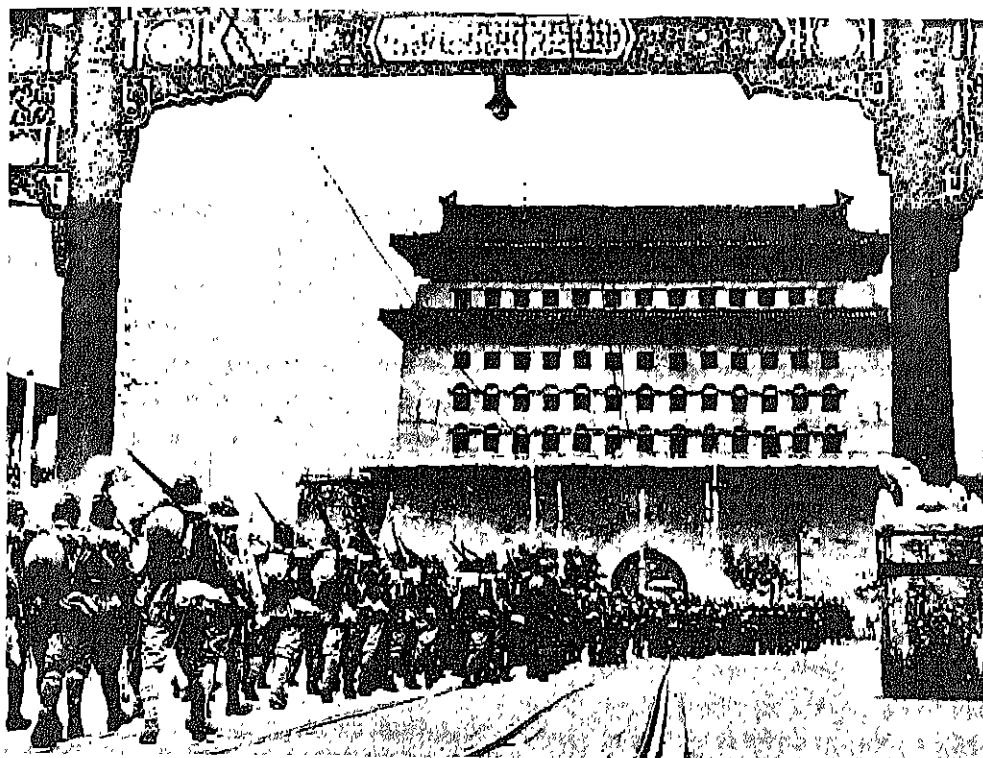
जुलाई 1937 में जापानी सैनिक टुकड़ियों द्वारा बीजिंग पर कब्ज़ा

को मनाने के लिए किसी और देश की बलि दे देना। पश्चिमी देशों की तुष्टीकरण की इस नीति के बिना फ़ासीवाद इतने लंबे समय तक जीवित नहीं रह पाता और न ही द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ कर पाता।

1930 के दशक में जर्मनी, इटली और जापान ने हमलों का एक सिलसिला शुरू किया। उनका दावा था कि वे कम्युनिज़्म से लड़ रहे हैं। हिटलर ने बार-बार घोषणा की कि उसका इरादा सोवियत संघ के अपार संसाधनों और क्षेत्रों को जीतने का है। इन देशों में सभी समाजवादी और कम्युनिस्ट आंदोलन कुचले जा चुके थे। रूसी क्रांति की सफलता के बाद से ही पश्चिमी देश कम्युनिज़्म के ख़तरे से डरे हुए थे। उन्हें आशा थी कि फ़ासीवादी देश उन्हें इस ख़तरे से मुक्ति दिलाएँगे। फ़ासीवादी आक्रमणों के प्रति पश्चिमी देशों के इस दृष्टिकोण को एक इतिहासकार ने संक्षेप में इस प्रकार सामने रखा है: "निःसंदेह नाज़ियों ने संसार को यह विश्वास दिलाने के लिए यथाशक्ति प्रयास किया था कि वे बोल्शेविकवाद के विनाश और सोवियत संघ पर विजय के लिए कमर कस चुके हैं। हिटलर का यह कथन इस प्रचार का एक विशिष्ट उदाहरण है कि अगर उसे यूराल पर्वत मिल जाए तो सारे जर्मन विशाल समृद्धि के सागर में ग़ोते लगाएँगे। पश्चिमी विश्व के अभिजात वर्ग (एलीट) ने इसका विश्वास करने में कोई हिचक नहीं दिखाई। बड़े ज़मींदार, अभिजात वर्ग, उद्योगपति, बैंकर, चर्च के बड़े पदाधिकारी, यूरोप के हर तरह के प्रभावशाली व्यक्ति और मध्यवर्गीय तत्व इस भय से कभी मुक्त नहीं हो सके थे कि उनके अपने मज़दूर और किसान सामाजिक क्रांति की माँग

कर सकते हैं और संभव है कि क्रांति का नेतृत्व तथा संगठन कम्युनिस्ट करें। फासीवाद भले ही डाकुओं का संगठन हो, परंतु कम्युनिज़्म को पराजित कर सकने वाली तथा निहित स्वार्थों का नियंत्रण बनाए रखने वाली एक शक्ति के रूप में, फ़ासीवाद का इन लोगों द्वारा समर्थन स्वाभाविक और निष्कपट था। इसमें नाममात्र को भी संदेह नहीं हैं कि ब्रिटेन और फ्रांस के अनेक शक्तिशाली लोगों ने धुरी शक्तियों को मज़बूत बनाने तथा आगे बढ़ाने के लिए काम किया था ताकि वे सोवियत संघ पर आक्रमण करें।'' तुष्टीकरण की इस नीति ने फ़ासीवादी शक्तियों को मज़बूत बनाया और दुनिया को द्वितीय विश्वयुद्ध की ओर ले गई।

चीन पर जापान का आक्रमण

चीन पर 1931 में जापान का हमला प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की प्रमुख आक्रामक कार्यवाहियों में से एक था। यह हमला एक छोटी सी घटना का बहाना लेकर किया गया। यह घटना चीन के उत्तर-पूर्वी प्रांत मंचूरिया की एक रेल-लाइन से संबंधित थी जिस पर जापानियों का अधिकार था। चीन राष्ट्रसंघ का सदस्य था। उसने राष्ट्रसंघ से अनुरोध किया कि वह जापानी आक्रमण को रोकने के लिए उसके ख़िलाफ़ प्रतिबंध लगाए पर राष्ट्रसंघ के प्रमुख देश, फ्रांस और ब्रिटेन, इस अनुरोध के प्रति उदासीन रहे और उन्होंने एक तरह से इस आक्रमण को अपनी सहमति दे दी। जापान ने मंचूरिया पर कब्ज़ा करके वहाँ एक कठपुतली सरकार बिठा दी फिर वह दूसरे इलाके जीतने के लिए बढ़ा। संयुक्त राज्य अमरीका ने भी इस हमले को रोकने के लिए कुछ नहीं किया। जापान 1933 में राष्ट्रसंघ से अलग हो गया। उसने चीन में स्थित ब्रिटिश और अमरीकी संपत्ति पर भी कब्ज़ा करना आरंभ कर दिया फिर भी जापान के प्रति तुष्टीकरण की नीति जारी रही क्योंकि पश्चिमी देशों का ख़्याल था कि चीन और सोवियत संघ को कमज़ोर करने के लिए जापान का इस्तेमाल किया जा सकता है। ब्रिटेन के पास ऐसा सोचने का एक और कारण भी था। वह जापान से झगड़ा करके अपने एशियाई अधिकार क्षेत्रों के लिए ख़तरा उत्पन्न नहीं करना चाहता था।

जर्मन सैन्यीकरण

राष्ट्रसंघ के बनने के कुछ ही समय बाद जर्मनी को उसकी सदस्यता दे दी गई थी परंतु जब हिटलर सत्ता में आया तो वह राष्ट्रसंघ से अलग हो गया और उसने सैन्यीकरण का एक विशाल कार्यक्रम आरंभ कर दिया। वरसई की संधि ने जर्मनी की सैनिक शक्ति पर ज़बर्दस्त प्रतिबंध लगाए थे। जर्मनी ने जब संधि की अवहेलना करके सैन्यीकरण कार्यक्रम आरंभ किया तो अनेक देशों में असुरक्षा की भावना पैदा हो गई। फ्रांस में यह भावना ख़ासतौर पर तेज़ थी। यह स्थिति थी जब सोवियत संघ 1934 में राष्ट्रसंघ का सदस्य बना। जर्मनी का पुनःसैन्यीकरण रोकने के लिए कुछ नहीं किया गया। वरसई की संधि के अनुसार फ्रांस की सीमा से लगे राइनलैंड नामक क्षेत्र को सेनाविहीन बनाया गया था ताकि जर्मनी द्वारा फ्रांस पर आक्रमण कठिन हो जाए। 1936 में संधि का उल्लंघन करते हुए हिटलर की सेनाओं ने राइनलैंड में प्रवेश किया। इससे फ्रांस सशंकित हो गया। तो भी जर्मनी को रोकने के लिए कुछ नहीं किया गया। तब तक जर्मनी ने आठ लाख की सेना तैयार कर ली थी, जबकि आपको याद होगा कि वरसई संधि ने इनके लिए एक लाख की अधिकतम संख्या निर्धारित की थी। उसने ब्रिटेन की सहमति से एक ताकतवर नौसेना बनानी भी शुरू कर दी।

इथियोपिया पर इटली का हमला

1935 में इटली ने इथियोपिया पर हमला किया। इथियोपिया की अपील पर राष्ट्रसंघ ने इटली को आक्रमणकारी बतलाते हुए उसकी निंदा का प्रस्ताव पारित किया। प्रस्ताव में इटली के ख़िलाफ़ आर्थिक प्रतिबंध लगाने की बात भी कही गई थी, जिसमें उसको हथियार बेचने पर प्रतिबंध भी शामिल था पर इटली को दंडित करने की कोई कार्यवाही नहीं की गई। 1936 में इटली ने इथियोपिया को पूरी तरह जीत लिया।

स्पेन का गृह युद्ध

दूसरी घटना, जिसने जर्मनी और इटली की मित्रता की शुरुआत का संकेत किया, स्पेन के गृह युद्ध में उनकी संयुक्त कार्रवाई थी। स्पेन 1931 में एक गणतंत्र बन गया था। 1936 में वहाँ जन मोर्चा की सरकार बनी, जिसमें समाजवादी, कम्युनिस्ट और दूसरी लोकतांत्रिक और फ़ासीवाद-विरोधी पार्टियाँ शामिल थीं। जनरल फ्रांको के

नेतृत्व में सेना के एक हिस्से ने विद्रोह कर दिया। फ्रांको को जर्मनी और इटली का सशस्त्र समर्थन मिला। इससे देश में गृह युद्ध छिड़ गया। गृह युद्ध में इटली और जर्मनी ने खुलेआम हस्तक्षेप किया। उन्होंने विद्रोहियों की सहायता के लिए सैनिक, टैंक और युद्धपोत भेजे। स्पेन के शहरों और गाँवों पर जर्मन विमानों ने बम बरसाए। स्पेन की गणतांत्रिक सरकार ने फ़ासीवादियों के विरुद्ध सहायता की माँग की परंतु उसकी मदद के लिए केवल सोवियत संघ आया। ब्रिटेन और फ्रांस ने हस्तक्षेप न करने की पैरवी की और स्पेन की सरकार को सहायता देने से इनकार कर दिया फिर भी गणतंत्रवादियों को विश्वव्यापी समर्थन मिला। अनेक फ़ासीवाद-विरोधी जर्मनों समेत कई देशों के हजारों फ़ासीवाद-विरोधी स्वयंसेवकों को अंतर्राष्ट्रीय दस्तों में संगठित किया गया। वे स्पेन गए और वहाँ उन्होंने स्पेनवासियों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर फ़ासीवादियों का मुकाबला किया। बीसवीं सदी के कुछ श्रेष्ठ लेखकों और कलाकारों ने भी गणतंत्रवादियों को सक्रिय समर्थन दिया। स्पेन की लड़ाई अंतर्राष्ट्रीय महत्व की हो गई क्योंकि यह अधिकाधिक महसूस किया जाने लगा कि स्पेन में फ़ासीवाद की विजय फ़ासीवादियों के मनोबल बढ़ाएगी और वे और भी हमले करेंगे। स्पेन में हजारों गैर-स्पेनी लोगों द्वारा अपना बलिदान देना अंतर्राष्ट्रवाद का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। स्पेन का यह गृह युद्ध तीन वर्ष तक चला। उसमें लगभग दस लाख लोग मारे गए। अंततः फ्रांको के नेतृत्व में फ़ासीवादी शक्तियाँ 1939 में गणतंत्र को नष्ट करने में सफल हो गईं। अधिकांश पश्चिमी शक्तियों ने फ़ौरन ही नई सरकार को मान्यता दे दी।

भारत के राष्ट्रीय आंदोलन ने जो फ़ासीवाद के ख़तरे के प्रति सजग था, गणतंत्रवादियों के पक्ष का समर्थन किया। इस दौरान जवाहर लाल नेहरू गणतंत्रवादियों के साथ भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की एकता प्रकट करने के लिए स्पेन गए।

फ़ासीवाद की विजय का कारण उसके प्रति पश्चिमी देशों की तुष्टीकरण की नीति थी जिसके फलस्वरूप फ़ासीवादी देश अधिकाधिक आक्रामक होते गए। जर्मनी ने स्पेन के गृहयुद्ध में अनेक नए हथियारों का परीक्षण उनकी प्रभावकारिता को जाँचने के लिए किया। द्वितीय विश्वयुद्ध में इन हथियारों का उसने इस्तेमाल किया।

म्यूनिख समझौता

मार्च 1938 में जबकि स्पेन का गृह युद्ध अभी जारी था, हिटलर की सेनाओं ने आस्ट्रिया में घुसकर उस पर कब्ज़ा कर लिया। यह प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुई संधियों का उल्लंघन था, परंतु पश्चिमी शक्तियों ने कोई आपत्ति न की।

फ़ासीवाद के तुष्टीकरण का आख़िरी प्रयास म्यूनिख़ का समझौता था। जर्मनी की आँखें चेकोस्लोवाकिया पर गड़ी थीं जो अपने उद्योगों के कारण महत्वपूर्ण था। पूर्व में सोवियत संघ की ओर विस्तार की दृष्टि से भी चेकोस्लोवाकिया का सामरिक महत्व था। हिटलर ने चेकोस्लावाकिया के एक भाग, सुदेतेनलैंड पर दावा किया जहाँ काफ़ी जर्मन जनसंख्या थी। वह क्षेत्रफल में चेकोस्लोवाकिया का पाँचवा भाग था और वहाँ दुनिया का एक बहुत बड़ा शस्त्र-निमार्ण कारख़ाना था। जर्मनी द्वारा उत्पन्न ख़तरे के मुकाबले के लिए ब्रिटेन और फ्रांस के प्रधानमंत्री 29-30 सितंबर 1938 को म्यूनिख में हिटलर और मुसोलिनी से मिले। चेकोस्लोवाकिया की सहमति लिए बिना ही उन्होंने जर्मनी की शर्तें मान लीं। फ़ौरन ही जर्मन सैनिकों ने सुदेतेनलैंड पर कब्ज़ा कर लिया। कुछ माह बाद, मार्च 1939 में जर्मनी ने पूरे चेकोस्लोवाकिया को हथिया लिया।

म्यूनिख़ समझौता पश्चिमी देशों की तुष्टीकरण संबंधी अंतिम कार्यवाही थी। इससे प्रोत्साहन पाकर जर्मनी ने और भी शर्तें रखी। फ़ासीवादी हमले का विरोध और विश्वयुद्ध को रोकने का एक ही रास्ता था- सोवियत संघ के साथ पश्चिमी देशों का गठबंधन। सोवियत संघ ऐसे गठबंधन की माँग करता आ रहा था परंतु पश्चिमी देशों की तुष्टीकरण की नीति ने सोवियत संघ को विश्वास दिला दिया कि उनकी मुख्य रुचि जर्मन विस्तार की दिशा को सोवियत संघ की ओर मोड़ने में है। सोवियत संघ के लिए म्यूनिख़ समझौता इस बात का एक और सबूत था कि पश्चिमी शक्तियाँ जर्मनी को तुष्ट करने की कोशिश में लगी हैं ताकि उसके हमलों को पूर्व की ओर यानी सोवियत संघ के ख़िलाफ़ मोड़ा जा सके। तब सोवियत संघ ने जर्मनी के साथ एक अनाक्रमण समझौता (नान-एग्रेशन पैक्ट) अगस्त 1939 में किया। इस बीच ब्रिटेन और फ्रांस ने पोलैंड, यूनान, रोमानिया और तुर्की को वचन दिया कि उनकी

29 सितंबर 1938 में म्यूनिख में हिटलर तथा मुसोलिनी के साथ ब्रिटिश प्रधान मंत्री नेविले चेम्बरलेन (बाएँ से प्रथम) तथा फ्रांसीसी प्रधान मंत्री एडोर्ड देलेदिआर (बाएँ से दूसरे)

स्वतंत्रता के लिए अगर ख़तरा उत्पन्न हुआ तो वे उनकी सहायता करेंगे।

द्वितीय विश्वयुद्ध

द्वितीय विश्वयुद्ध भी प्रथम विश्वयुद्ध की ही तरह यूरोप में शुरू हुआ और आगे चलकर विश्वयुद्ध बन गया। मंचूरिया पर हमले से लेकर चेकोस्लोवाकिया के हथियाए जाने तक जापान, इटली और जर्मनी के सभी हमलों को पश्चिमी देशों ने अपनी मौन सहमति दी थी, परंतु फ़ासीवादी शक्तियों की महत्वाकांक्षाएँ संतुष्ट नहीं हुई थीं। ये देश विश्व के नए सिरे से बँटवारे की योजना बना रहे थे और इसलिए स्थापित साम्राज्यवादी शक्तियों से उनका टकराव होना लाज़मी था। तुष्टीकरण की नीति ने फ़ासीवादी शक्तियों के मजबूत बनने में सहायता दी थी। सोवियत-जर्मन अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर के कारण इन देशों के आक्रमण को सोवियत संघ की ओर मोड़ने की पश्चिमी देशों की नीति नाकाम हो गई थी।

इस कारण यूरोप में युद्ध फ़ासीवादी शक्तियों और पश्चिमी यूरोप की दो प्रमुख शक्तियों - ब्रिटेन और फ़्रांस के बीच आरंभ हुआ। कुछ ही महीनों में नए-नए क्षेत्रों तक फैलकर और अंततः दुनिया के लगभग हरेक देश को अपनी लपेट में लेकर यह विश्वयुद्ध बन गया।

पोलैंड पर आक्रमण

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पूर्वी प्रशिया को शेष जर्मनी से अलग कर दिया गया था। पूर्वी प्रशिया को शेष जर्मनी से अलग करने वाले देन्ज़िग नगर को जर्मन-नियंत्रण से मुक्त, स्वतंत्र नगर बना दिया गया था। हिटलर ने माँग की कि देन्ज़िग नगर जर्मनी को लौटा दिया जाए, पर ब्रिटेन ने उसकी माँग मानने से इनकार कर दिया।

1 सितंबर 1939 को जर्मन सेनाएँ पोलैंड में घुस गईं। 3 सितंबर को ब्रिटेन और फ़्रांस ने जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा की। इस तरह पोलैंड पर हमले के साथ द्वितीय विश्वयुद्ध का आरंभ हो गया। चूँकि पोलैंड को कोई सहायता नहीं मिली, इसलिए तीन सप्ताह से भी कम समय में जर्मन सेनाओं ने पूरी तरह पोलैंड को जीत लिया। युद्ध की घोषणा के बावजूद अनेक महीनों तक कोई भी वास्तविक लड़ाई नहीं हुई। इसलिए सितंबर 1939 से अप्रैल 1940 तक (जर्मनी द्वारा नार्वे और डेनमार्क पर हमले के समय तक) के युद्ध को 'नकली युद्ध' (फ़ोनी वार) कहा जाता है।

पोलैंड पर जर्मन हमले के कुछ ही समय बाद सोवियत संघ ने पूर्वी पोलैंड पर हमला किया और उन क्षेत्रों पर कब्ज़ा कर लिया जो पहले रूसी साम्राज्य के थे मगर प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जिन पर पोलैंड ने कब्ज़ा कर लिया था, ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह कब्ज़ा सोवियत-जर्मन अनाक्रमण संधि की गुप्त व्यवस्थाओं का एक भाग था। 1940 में तीन बाल्टिक राज्य- लिथुआनिया, लात्विया और एस्तोनिया, जो प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स्वतंत्र हो गए थे, सोवियत संघ में शामिल हो गए। एक गणराज्य के रूप में मोल्दाविया भी सोवियत संघ में शामिल हो गया। नवंबर 1939 में सोवियत संघ का फ़िनलैंड से भी युद्ध हुआ।

नार्वे, डेनमार्क, हालैंड, बेल्जियम और फ़्रांस पर विजय

9 अप्रैल 1940 को जर्मनी ने नार्वे और डेनमार्क पर हमला किया और तीन हफ़्तों के अंदर दोनों को पूरी तरह जीत लिया। नार्वे में जर्मन आक्रामकों की सहायता, वहाँ की फ़ासीवादी पार्टी के नेता क्विज़लिंग ने की जिसने जर्मन कब्ज़े के बाद एक कठपुतली सरकार बनाई। यही कारण है कि आज 'क्विज़लिंग' नाम का प्रयोग ही अपने देश पर हमला करने वाले के साथ सहयोग करने वाले देशद्रोहियों के लिए किया जाता है। मई के आरंभ में बेल्जियम और हालैंड पर हमला हुआ और मई के समाप्त होने से पहले इन पर कब्ज़ा भी हो गया। जल्द ही, जर्मन सेनाओं ने फ़्रांस पर हमला किया और बिना किसी ख़ास युद्ध के 14 जून 1940 को पेरिस शहर जर्मनों के हाथों में आ गया। इस बीच इटली भी अपने सहयोगी जर्मनी की ओर से युद्ध में उतर चुका था। 22 जून 1940 को फ़्रांस की सरकार ने आत्मसमर्पण कर दिया। उसने जर्मनी के साथ शांति-संधि पर समझौता करके लगभग आधा फ़्रांस जर्मनी के कब्ज़े में दे दिया। शेष भाग फ़्रांस सरकार के नियंत्रण में रहा।
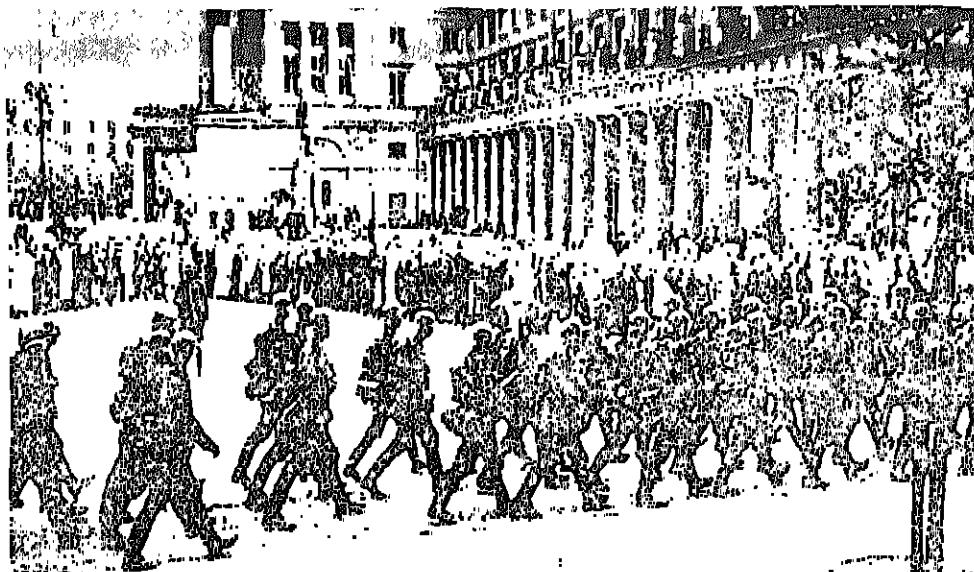
वारसा में जर्मन फौजें, पोलैंड, अक्तूबर 1939

उससे अपनी सेना को भंग करने तथा फ्रांस में जर्मन सेनाओं के रख-रखाव का खर्च उठाने को कहा गया। जर्मनी के आगे आत्मसमर्पण करने के बाद फ्रांस की सरकार विशी नगर से शासन चला रही थी। फ्रांस की हार के बाद जर्मनी यूरोपीय महाद्वीप की सबसे बड़ी शक्ति बन बैठा। जर्मनी द्वारा तीव्र गति से और पूरी शक्ति से चलाए गए इस युद्ध को 'ब्लिट्ज़क्रीग' अर्थात तड़ित-युद्ध कहा जाता है।

ब्रिटेन की लड़ाई

फ्रांस के पतन के बाद यूरोप में ब्रिटेन एकमात्र प्रमुख शक्ति के रूप में बचा रह गया। जर्मनी का सोचना यह था कि चूँकि ब्रिटेन के पास यूरोप में कोई सहयोगी नहीं बचा है, इसलिए वह जल्द ही आत्मसमर्पण कर देगा। जर्मन वायुसेना ने अगस्त 1940 में ब्रिटेन पर हवाई हमले शुरू कर दिए ताकि उसे डरा-धमकाकर आत्मसमर्पण कराया जा सके। इस लड़ाई को ब्रिटेन की लड़ाई कहते हैं। हवाई हमलों से बचाव के लिए ब्रिटेन की रायल एयर फोर्स ने बहादुराना भूमिका निभाई और बदले में जर्मन क्षेत्रों पर भी हवाई हमले किए। युद्ध के वर्षों में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल थे। उनके नेतृत्व में ब्रिटेन की जनता ने साहस और दृढ़ता के साथ जर्मन हमलों का सफलतापूर्वक सामना किया।

इस बीच इटली ने उत्तरी अफ्रीका में सैनिक कार्यवाहियाँ आरंभ कर दी थी। उसने यूनान पर भी हमला किया मगर इन दोनों क्षेत्रों पर इटली के हमलों को नाकाम कर दिया गया। मगर जर्मनी बाल्कान प्रायद्वीप के देशों (यूनान, यूगोस्लाविया, बुलारिया) तथा उत्तरी अफ्रीका के एक बड़े भाग पर कब्ज़ा करने में सफल रहा।

सोवियत संघ पर जर्मनी का हमला

ब्रिटेन को छोड़ लगभग पूरे यूरोप को जीतने के बाद जर्मनी ने 22 जून 1941 को अनाक्रमण संधि के बावजूद सोवियत संघ पर हमला कर दिया। जैसा कि कहा जा चुका है, सोवियत संघ के विशाल क्षेत्र और संसाधनों पर हिटलर की निगाहें हमेशा से गड़ी थीं। उसने सोचा कि आठ सप्ताह में सोवियत संघ का वह विनाश कर देगा। सोवियत संघ के साथ इस युद्ध के आरंभिक दौर में जर्मनी को महत्वपूर्ण सफलताएं मिलीं। जर्मनों ने सोवियत संघ का काफी बड़ा भाग तबाह कर डाला, लेनिनग्राद पर घेरा डाल दिया गया और जर्मन

पेरिस पर कब्ज़ा करती जर्मन फौज़ें, जून 1940

सेनाएँ मास्को की ओर बढ़ने लगीं परंतु जर्मनी की आरंभिक सफलताओं के बाद उसके आक्रमण को रोक दिया गया। सोवियत संघ तब तक पर्याप्त औद्योगिक और सैनिक शक्ति प्राप्त कर चुका था। उसने जर्मन हमले का बहादुरी से सामना किया और जर्मनी की शीघ्र विजय पाने की आशा पर पानी फिर गया।

सोवियत संघ पर जर्मन हमले ने युद्ध के क्षेत्र को काफी विस्तृत बना दिया। लड़ाई का एक नया मोर्चा खुल गया। इसके बाद एक महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि हमले के मुकाबले के लिए ब्रिटेन, सोवियत संघ और अमरीका एक हो गए। सोवियत संघ पर हमले के फौरन बाद चर्चिल और रूज़वेल्ट ने उसे क्रमशः ब्रिटेन और अमरीका के समर्थन की घोषणा की और उसे सहायता देने का वादा भी किया। इसके बाद सोवियत संघ और ब्रिटेन के बीच तथा सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका के बीच समझौते हुए। यही वह एकता थी, जिसके कारण जर्मनी, इटली और जापान को आख़िरकार हराया जा सका।

युद्ध का विस्तार

आप 1931 मे चीन पर हुए जापानी हमले के बारे में पढ़ चुके हैं। 1937 में जापानियों ने चीन पर एक और हमला किया। जर्मनी और इटली के साथ जापान भी कोमिंटर्न-विरोधी-गठजोड़ का एक सदस्य था। सितंबर 1940 में इन तीनों ने एक और समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसने उनकी

एकता को और भी ठोस बना दिया। जापान ने "यूरोप में एक नई व्यवस्था के निर्माण के लिए जर्मनी और इटली के नेतृत्व" को मान्यता दी और एशिया में एक नई व्यवस्था के निर्माण के लिए जापान के नेतृत्व को मान्यता दी गई। इस समझौते का उद्देश्य विश्व का पुनर्विभाजन था। 7 दिसंबर 1941 को जापान ने युद्ध की घोषणा किए बिना हवाई स्थित पर्ल हार्बर के अमरीकी नौसैनिक अड्डे पर ज़बर्दस्त हमला कर दिया। वहाँ मौजूद अमरीका का प्रशांत बेड़ा तहस-नहस हो गया। अमरीका को 20 जंगी जहाजों और लगभग 250 हवाई जहाजों से हाथ धोना पड़ा, लगभग 3000 लोग मारे गए । अमरीकी भौचक्के रह गए। जापान और अमरीका की सरकारों के बीच एशिया और प्रशांत क्षेत्र से संबंधित अपने मतभेदों को दूर करने के लिए काफी दिनों से बातचीत चल रही थी। चीन पर जापानी हमले के बाद अमरीका की सरकार अनेक ज़रूरी वस्तुएँ जापान भेजे जाने की अनुमति दे रही थी। बातचीत जारी रहते हुए भी पर्ल हार्बर पर हुए जापानी हमले ने दिखा दिया कि जापान एशिया और प्रशांत क्षेत्र की विजय के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ है। इसके बाद द्वितीय विश्वयुद्ध सही अर्थों में विश्वव्यापी हो गया। 8 दिसंबर 1941 को अमरीका ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। तुरंत बाद जर्मनी और इटली ने भी संयुक्त राज्य के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध में संयुक्त राज्य अमरीका के शामिल होने के बाद अमरीकी महाद्वीप के बहुत सारे देश जर्मनी, इटली और जापान के विरुद्ध युद्ध में उतर आए। एशिया की लड़ाई में जापान को महत्वपूर्ण सफलताएँ मिलीं। पर्ल हार्बर पर हमले के छह माह के भीतर जापानियों ने मलाया, बर्मा, इंडोनेशिया, फिलिपीन्स, सिंगापुर, थाईलैंड, हांग-कांग और दूसरे अनेक क्षेत्रों को जीत लिया था।

1942 के मध्य तक फ़ासीवादी ताकतें अपने प्रभुत्व के शिखर तक पहुँच चुकी थीं। इसके बाद उनका पतन आरंभ हुआ।

स्तालिनग्राद की लड़ाई

फ़ासीवादी ताकतों के ख़िलाफ़ लड़ने वाले देशों की एकता जनवरी 1942 में मज़बूत हुई। ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ समेत 26 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने एक घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किए जो संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र के नाम से मशहूर हुआ। इस घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने वालों ने यह निश्चय किया कि विजय होने तक वे अपने सभी संसाधनों का उपयोग युद्ध के लिए करेंगे और अपने समान दुश्मन के ख़िलाफ़ एक दूसरे से सहयोग करेंगे। उन्होंने कोई पृथक शांति-संधि न करने का वचन दिया।

7 दिसम्बर 1941 को जापानी फौज के आक्रमण के बाद पर्ल हार्बर

स्तालिनग्राद (आज का वोलगोग्राद) की लड़ाई के बाद युद्ध में एक महत्वपूर्ण मोड़ आया। नवम्बर-दिसम्बर 1941 में मास्को की ओर जर्मनों के अभियान को कड़े प्रतिरोध का सामना करना पड़ा और उनका हमला नाकाम कर दिया गया तब जर्मनी ने दक्षिणी रूस में आक्रामक कार्रवाई शुरू की। अगस्त 1942 में जर्मन सेनाएँ स्तालिनग्राद के बाहर तक पहुँच गईं। पाँच माह से अधिक समय तक वहाँ लड़ाई चली। इसमें लगभग बीस लाख लोगों, 2000 टैंकों और 2000 हवाई जहाजों ने भाग लिया। स्तालिनग्राद के नागरिकों ने नगर की रक्षा में सैनिकों का साथ दिया। फ़रवरी 1943 में लगभग 90,000 जर्मन अफसरों और सैनिकों ने आत्मसमर्पण कर दिया। इस लड़ाई में जर्मनी ने लगभग तीन लाख लोग खो दिए। इस लड़ाई ने युद्ध का रुख़ ही मोड़ दिया।

सन् 1942 का यूरोप
अटलांटिक महासागर
फिनलैंड
सोवियत संघ
स्वीडन
नार्वे
लेनिनग्राद
एस्तोनिया
आयरलैंड
उत्तरी सागर
डेनमार्क
बाल्टिक सागर
लैत्विया
मास्को
लिथुआनिया
ग्रेट ब्रिटेन
लंदन
डेनज़िंग
हालैंड
बर्लिन
वार्सा
स्तालिनग्राद
बेल्जियम
जर्मनी
पोलैंड
पेरिस
फ्रांस
चेकोस्लोवाकिया
आस्ट्रिया
रोमानिया
स्विटज़रलैंड
हंगरी
वाइशी
काला सागर
यूगोस्लाविया
इटली
स्पेन
बल्गारिया
रोम
अल्बानिया
तुर्की
एजियन सागर
सीरिया
भूमध्य सागर
एक्सिस देश
एक्सिस देशों द्वारा अधिग्रहण किये गए क्षेत्र
तटस्थ देश
मित्र राष्ट्रों के अंतर्गत के क्षेत्र
सऊदी अरब
लाल सागर

समुद्र में भारत का जल प्रदेश, उपयुक्त आधार रेखा से मापे गये बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
मानचित्रों के आंतरिक विवरणों को सही दर्शाने का दायित्व प्रकाशक का है।

स्तालिनग्राद की लड़ाई में जर्मन सेना की पराजय, फरवरी 1943

दूसरा मोर्चा

फ़ासीवादी देशों को दूसरे क्षेत्रों में भी नुकसान होने लगे। जापान आस्ट्रेलिया और हवाई पर कब्ज़ा नहीं कर सका। 1943 के आरंभ तक उत्तरी अफ्रीका में जर्मन और इतालवी सेनाओं का सफाया हो गया। उत्तरी अफ्रीका में फ़ासीवादी सेना के विनाश से भी युद्ध में एक नया मोड़ आया। जुलाई 1943 मे ब्रिटिश और अमरीकी सेनाओं ने सिसली पर कब्ज़ा कर लिया। इटली की जनता के अनेक वर्ग मुसोलिनी के ख़िलाफ़ हो गए थे। उसे गिरफ्तार कर लिया गया और एक नई सरकार की स्थापना हुई। यह सरकार जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्ध में शामिल हो गई। मगर जर्मन सेनाओं ने उत्तरी इटली पर हमला किया। वहाँ जर्मनी की मदद से भाग निकलने वाले मुसोलिनी ने अपने नेतृत्व में एक जर्मन समर्थक सरकार बनाई। इस बीच ब्रिटिश और अमरीकी सेनाएँ इटली में घुस आईं। जर्मनों को इटली से निकाल बाहर करने के लिए एक लंबी लड़ाई की शुरुआत हो गई। उस समय सोवियत संघ जर्मनी के ख़िलाफ़ महत्वपूर्ण जीतें हासिल कर रहा था और वह चेकोस्लोवाकिया और रोमानिया में प्रवेश कर चुका था जो अब तक जर्मनी के कब्ज़े में थे।

6 जून 1944 को एक लाख से भी अधिक ब्रिटिश और अमरीकी सैनिक फ्रांस मे नारमंडी के समुद्रतट पर उतरे। सितंबर तक उनकी संख्या बढ़कर बीस लाख हो गई। जर्मनी की पराजय ने इस मोर्चे को एक महत्वपूर्ण भूमिका दी। इसी को 'दूसरा मोर्चा' कहा जाता है। जर्मनी और सोवियत संघ के बीच यूरोप में 1942 के बाद बड़ी घमासान लड़ाइयाँ हुईं। सोवियत संघ लंबे समय से दूसरा मोर्चा खोलने की मांग करता आ रहा था, क्योंकि इससे जर्मनी को दूसरे मोर्चों पर भी लड़ने के लिए मज़बूर होना पड़ता और इस प्रकार उसकी पराजय और भी जल्दी हो जाती। "दूसरा मोर्चा" खुल जाने के बाद हर जगह जर्मन सेनाओं के पाँव उखड़ने लगे।

यूरोप में युद्ध का अंत

6 जून 1944 के बाद जर्मन सेनाओं को तीन दिशाओं से बढ़ रही मित्र राष्ट्रों की सेनाओं का सामना करना पड़ा। इटली में ब्रिटिश और अमरीकी सेनाएँ आगे बढ़ रही थीं। उत्तरी और पश्चिमी फ्रांस तथा पेरिस नगर मुक्त कराए
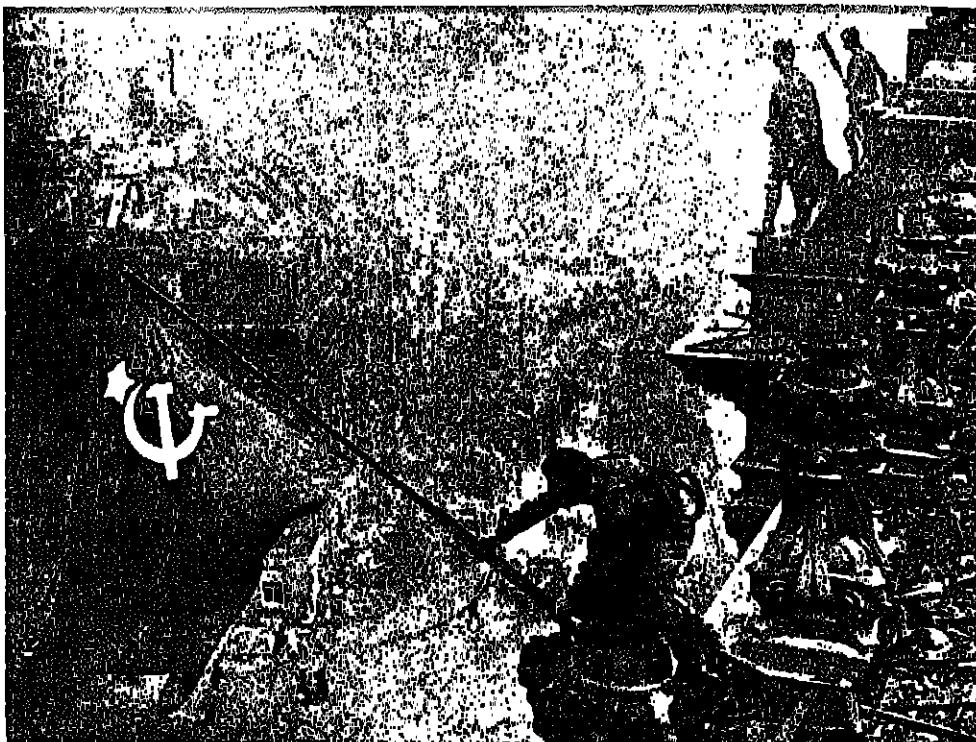
2 मई 1945 को सोवियत सेना ने बर्लिन में प्रवेश किया। इस चित्र में एक सोवियत सैनिक को हाथ में झंडा लिए प्रदर्शित किया गया है जो विजय का प्रतीक है।

जा चुके थे और अब मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ बेल्जियम और हालैंड की ओर बढ़ रही थीं। पूर्वी मोर्चे पर भी जर्मनी का दम उखड़ रहा था। पूर्व से सोवियत सेना और पश्चिम से अन्य मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ जर्मनी को घेर रही थी। 2 मई 1945 को सोवियत सेनाओं ने बर्लिन में प्रवेश किया। उसी दिन सुबह के समय हिटलर ने आत्महत्या कर ली थी। 7 मई 1945 को जर्मनी ने बिना शर्त समर्पण कर दिया। 9 मई 1945 को बारह बजे दोपहर से यूरोप में जंग समाप्त हो गई।

जापान का आत्मसमर्पण

जर्मनी की हार के बाद एशिया मे लड़ाई तीन माह तक और जारी रही। प्रशांत क्षेत्र, फिलिपीन्स और बर्मा में संयुक्त राज्य और ब्रिटेन जापान के खिलाफ सफल कार्यवाहियाँ कर रहे थे। परंतु काफी धक्कों के बावजूद भी जापानी चीन के एक बड़े भाग पर अभी भी कब्ज़ा किए हुए थे। 6 अगस्त 1945 को जापान के हिरोशिमा नगर पर एक परमाणु बम गिराया गया जो युद्ध के दौरान विकसित एक घातक अस्त्र था। यह पहला मौका था जब परमाणु बम का उपयोग किया गया था। इस एक बम ने ही हिरोशिमा नगर को नष्ट कर दिया। एक और परमाणु बम 9 अगस्त 1945 को नागासाकी नगर पर गिराया गया और वह नगर नष्ट हो गया। इस बीच सोवियत संघ जापान के खिलाफ युद्ध की घोषणा करके मंचूरिया और कोरिया में जापानी सेनाओं के खिलाफ सैनिक कार्रवाइयाँ आरंभ कर चुका था। 14 अगस्त को जापान ने संदेश भेजा कि वह मित्रराष्ट्रों द्वारा अपने समर्पण की माँग मानता है, हालाँकि वास्तविक समर्पण-कार्य 2 सितंबर 1945 को ही हुआ। जापान के समर्पण के साथ द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हो गया।
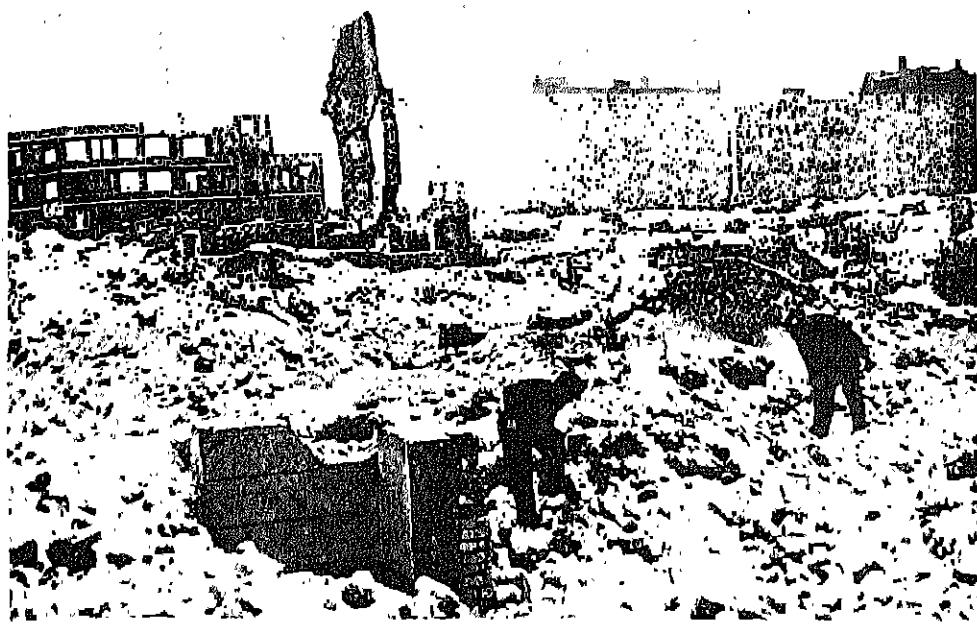
युद्ध के बाद ध्वस्त हालत में बर्लिन

प्रतिरोध आंदोलन

फ़ासीवादी देशों के हमले के शिकार सभी यूरोपीय देशों में वहाँ की जनता ने प्रतिरोध आंदोलन संगठित किए थे। अनेक देशों में वहाँ की सरकारों ने बिना किसी ख़ास लड़ाई के हमलावरों के आगे आत्मसमर्पण कर दिया था, पर वहाँ की जनता फ़ासीवादी शासन का प्रतिरोध करती रही। उदाहरण के लिए, जब फ्रांस की सरकार ने समर्पण कर दिया तब फ्रांस की जनता ने जर्मन कब्ज़े के ख़िलाफ़ एक लोकप्रिय प्रतिरोध आंदोलन का आरंभ किया था। फ्रांस के बाहर जनरल द गाल के नेतृत्व में एक फ्रांसीसी सेना भी गठित की गई जिसने युद्ध मे सक्रिय भाग लिया। दूसरे दशों में भी ऐसी ही सेनाएँ गठित की गई। अधिकार में लिए गए देशों में प्रतिरोध आंदोलनों ने छापामार फ़ौजों का निर्माण किया। यूगोस्लाविया और यूनान जैसे अनेक देशों में बड़े पैमाने पर छापामार गतिविधियाँ चलाई गईं, अनेक देशों में बड़े पैमाने पर विद्रोह हुए। वारसा में पोलैंड की जनता का बहादुराना विद्रोह प्रतिरोध आंदोलनों के इतिहास का एक शानदार अध्याय है। फ़ासीवादी देशों के अंदर भी प्रतिरोध आंदोलन चलाए गए। इटली और जर्मनी की फ़ासीवादी सरकारों ने लाखों फ़ासीवादी-विरोधी लोगों की हत्याएँ की थीं मगर फिर भी इन देशों के अनेक फ़ासीवाद-विरोधी लोग अपने देशों के अन्दर और बाहर फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ लड़ते रहे। इटली में फ़ासीवाद-विरोधी ताकतें बहुत ही शक्तिशाली थीं और मुसोलिनी के ख़िलाफ़ युद्ध में तथा इटली में जर्मन सेनाओं के ख़िलाफ़ लड़ाई में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। फ्रांस में, यूनान में तथा मार्शल टीटो के नेतृत्व यूगोस्लाविया में जनता ने फ़ासीवादी आक्रमणों का बहादुरी से सामना किया। इन प्रतिरोध आंदोलनों में समाजवादियों, कम्युनिस्टों और दूसरे फ़ासीवाद-विरोधियों की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रही। लाखों-लाख फ़ासीवाद-विरोधी नागरिक योद्धा इस युद्ध मे खेत रहे।

हरेक ऐसे क्षेत्र में जहाँ युद्ध फैला, हमलों के शिकार देशों की जनता ने बहादुरी के साथ लड़ाई लड़ी। एशिया

प्रतिरोध करने वाले यूगोस्लाव नेताओं के साथ जोसिप ब्रोज टीटो (एकदम दाएं), 1944

एक जर्मन यातना शिविर से जीवित बचे लोग

में चीन की जनता 1930 के फौरन बाद के वर्षों से ही जापानी हमले झेलती आई थी। 1920 के दर्शक के अंतिम वर्षों में चीन में कम्युनिस्टों और कोमिनतांग के बीच जो गृह युद्ध भड़का था, वह समाप्त हो गया और अब उसकी जगह जापानी हमले के विरोध में चलने वाले एक व्यापक राष्ट्रीय प्रतिरोध ने ले ली। जापान द्वारा विजित एशिया के अन्य भागों में भी, जैसे-हिंदचीन, कोरिया, इंडोनेशिया, फिलिपीन्स और बर्मा में, जनता ने शक्तिशाली प्रतिरोध आंदोलन छेड़े। ब्रिटिश और फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ लड़ रहे जनगणों ने इस फासीवाद-विरोधी युद्ध का समर्थन किया। फ़ासीवाद सुसंगठित बर्बरता का दूसरा नाम था और उसे अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ रहे जनगण अपना सहयोगी नहीं मानते थे। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश शासन से मुक्ति के लिए लड़ते हुए भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने फ़ासीवाद का विरोध किया।

युद्ध में हुई बर्बादी

द्वितीय विश्वयुद्ध इतिहास का सबसे विनाशकारी युद्ध था। फ़ासीवादियों ने यूरोप के एक बड़े भाग को एक बहुत बड़ा कब्रिस्तान और दासों का शिविर बना रखा था। यहूदियों के प्रति नाज़ियों की घृणा का पहले ही वर्णन किया जा चुका है। जर्मनी में और जर्मन कब्ज़े में आए यूरोपीय भागों में, युद्ध से पहले और उसके दौरान यहूदियों को पकड़ लिया जाता था। इनमें से साठ लाख यहूदी मार डाले गए। जर्मनी द्वारा आधिपत्य में लिए गए देशों की जनता के श्रम का उपयोग किया जाता था और उसके लिए अत्यंत भयानक श्रम शिविर खोले गये थे। लाखों लोग यंत्रणा-शिविरों में भेजकर मार डाले गए। ऐसे अनेक शिविर (जैसे बुख़ेनवाल्ड, आस्चविज़ और दखाओ के शिविर) वास्तव में मृत्यु-शिविर थे जहाँ लोगों को मारने के लिए नए-नए तरीकों का इस्तेमाल किया जाता था। लोग गैस-चैंबरों में डालकर मार दिए जाते। बड़े पैमाने पर नरसंहार किए गए। कैदियों से सामूहिक क़ब्रें खुदवाई जातीं, फिर उनको गोली मारकर उन्हीं कब्रों में डाल दिया जाता। यंत्रणा-शिविरों के करीब कुछ ख़ास तरह के कारख़ाने बनाए गए जहाँ इंसानी खाल और हड्डी से वस्तुएँ बनाई जाती थीं। फ़ासीवादियों, खासकर जर्मन नाज़ियों ने जिस तरह की यंत्रणाओं और दरिंदगी का सहारा लिया, वह इतिहास में अभूतपूर्व था और जिस बड़े पैमाने पर यह सब किया गया वह भी अभूतपूर्व था। ऐसी दरिंदगी के अनेक उदाहरण तब सामने आए जब जर्मनी युद्ध में हार गया, सामूहिक हत्याओं के स्थानों का पता चला और यंत्रणा-शिविरों में बचे हुए लोगों के बयान लिए गए। जापानियों द्वारा अपने कब्ज़े में किए गए अत्याचार भी कुछ कम हैवानी नहीं थे। तथा-कथित जापानी 'डाक्टरों' और 'वैज्ञानिकों' ने मनुष्यों पर चिकित्सा संबंधी अमानवीय प्रयोग किए।

इस युद्ध में जितने लोग काल कवलित हुए उसका

इतिहास में कोई उदाहरण नहीं मिलता। द्वितीय विश्वयुद्ध में पाँच करोड़ से अधिक लोग मृत्यु के घाट उतार दिए गए। इनमें लगभग 2.2 करोड़ सैनिक और 2.8 करोड़ से अधिक नागरिक शामिल थे। लगभग 1.2 करोड़ लोग यंत्रणा-शिविरों में या फ़ासीवादियों के आतंक के कारण मारे गए। कुछ देशों को जनसंख्या के एक बड़े भाग से हाथ धोना पड़ा। उदाहरण के लिए, पोलैंड के 60 लाख लोग मारे गए जो कुल जनसंख्या का लगभग 20 प्रतिशत थे। इनमें लगभग 50 लाख लोग असैनिक नागरिक थे। सबसे भयानक नुकसान सोवियत संघ का हुआ। उसके दो करोड़ लोग मारे गए जो आबादी का दसवाँ हिस्सा थे। जर्मनी के साठ लाख से अधिक लोग मारे गए जो आबादी का लगभग दसवाँ भाग थे। मानवीय हानि के अलावा अनेक देशों के आर्थिक और भौतिक संसाधन बुरी तरह क्षतिग्रस्त हुए। अनेक प्राचीन नगर लगभग पूरी तरह नष्ट हो गए। द्वितीय विश्वयुद्ध की कुल लागत बहुत ऊँची थी। अनुमान है कि यह लागत 13 खरब 84 अरब 90 करोड़ डालर थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान तबाही के नए-नए हथियारों का विकास और उपयोग किया गया। इनमें सबसे भयानक था – परमाणु बम। परमाणु बम का विकास सबसे पहले संयुक्त राज्य अमरीका ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान किया। इसके विकास में अनेक देशों के वैज्ञानिकों ने सहायता की थी। इनमें वे वैज्ञानिक भी शामिल थे जो यूरोप में फ़ासीवादी अत्याचारों से बचने के लिए भागकर अमरीका चले आए थे। इस बम के विकास की परियोजना तब आरंभ हुई जब अनेक वैज्ञानिकों ने अमरीकी सरकार से संपर्क इस शंका से ग्रस्त होकर किया कि नाज़ी जर्मनी परमाणु बम का विकास कर रहा था। उन्हें भय था कि अगर नाज़ियों ने इस बम का विकास कर लिया तो वे इसका डर दिखाकर पूरी दुनिया को गुलाम बना लेंगे। परमाणु बम का पहला परीक्षण जुलाई 1945 में किया गया। जर्मनी तब तक आत्मसमर्पण कर चुका था। इसके विकास में सहायता देने वाले अनेक लोगों ने अमरीकी सरकार से प्रार्थना की कि वह इसका प्रयोग जापान के ख़िलाफ़ न करे, जिसके ख़िलाफ़ युद्ध अभी भी चल रहा था। उन्होंने यह भी चेतावनी दी कि अगर जापान के ख़िलाफ़ परमाणु बम का उपयोग किया गया तो परमाणु अस्त्रों के उत्पादन की दौड़ आरंभ होने का ख़तरा हो सकता है। मगर, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, संयुक्त राज्य की सरकार ने दो जापानी नगरों, हिरोशिमा और नागासाकी पर बम गिराए। इन दो बमों से कुल मिलाकर 320,000 लोग तत्काल मारे गए और दोनों नगरों के बड़े भाग पूरी तरह नष्ट हो गए। जो लोग जीवित बच गए थे उनकी संतानों के स्वास्थ्य पर इन बमों के दुष्प्रभाव अभी भी जारी हैं। अमरीका की सरकार ने परमाणु बमों के प्रयोग को इस आधार पर उचित ठहराया कि इससे द्वितीय विश्वयुद्ध तत्काल समाप्त हो गया और इस तरह उन लाखों लोगों की जानें बच गईं जो युद्ध के जारी रहने पर चली जातीं। बम बनाने में सहायता देने वाले अनेक वैज्ञानिकों समेत अनेक दूसरे लोगों ने परमाणु बम के प्रयोग की निंदा की। जर्मनी की हार और यूरोप में युद्ध की समाप्ति के बाद जापान युद्ध को जारी रखने की स्थिति में न था और उसका समर्पण कुछ ही दिनों की बात थी। कुछ विद्वानों का विचार है कि परमाणु बम के प्रयोग का मुख्य उद्देश्य युद्ध के बाद की दुनिया में संयुक्त राज्य अमरीका की श्रेष्ठता स्थापित करना था, क्योंकि तब केवल उसी के पास परमाणु अस्त्र थे। कुछ भी हो, वैज्ञानिकों की यह भविष्यवाणी कि परमाणु बम के उपयोग से परमाणु अस्त्रों के निर्माण की दौड़ आरंभ हो जाएगी, सही सिद्ध हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कुछेक वर्षों के भीतर कुछ और देशों ने भी परमाणु अस्त्रों का विकास कर लिया। इसके अलावा दूसरे नाभिकीय अस्त्रों का भी विकास हुआ। ये अस्त्र जापान पर गिराए गए बमों से हज़ारों गुना अधिक शक्तिशाली हैं और अगर इनका उपयोग किया गया तो धरती पर मानव-जीवन पूरी तरह नष्ट हो जाएगा।

अभ्यास

जानकारी के लिए

1. फासीवादी और नाज़ी आंदोलनों की प्रमुख विशेषताएँ क्या थीं ?
2. 1929-33 के आर्थिक संकट के परिणामों की व्याख्या कीजिए।
3. 'धुरी शक्तियों' से क्या अभिप्राय है ?
4. इटली और जर्मनी में फासीवाद की विजय के परिणामों का वर्णन कीजिए।
5. इटली और जर्मनी की विदेश नीतियों के प्रमुख उद्देश्य क्या थे ? जापान की विदेश नीति के प्रमुख उद्देश्य क्या थे ?
6. 1936 से 1939 तक की उन प्रमुख घटनाओं का वर्णन कीजिए, जिन्होंने एक और विश्वयुद्ध की परिस्थितियों को जन्म दिया।
7. 1931 से 1938 के बीच पश्चिमी शक्तियों ने जापान, इटली और जर्मनी की हमलावर कार्यवाहियों को रोकने के लिए क्या कदम उठाए ?
8. प्रथम विश्वयुद्ध के बाद एशिया में राष्ट्रीय आंदोलनों के विकास का वर्णन कीजिए। 1919 और 1939 के बीच स्वतंत्रता प्राप्त करने वाले एशियाई देशों के नाम बतलाइए।
9. निम्नलिखित शब्दों की व्याख्या कीजिए : नकली युद्ध, दूसरा मोर्चा, ब्रिटेन की लड़ाई।

करने के लिए

1. यूरोप के मानचित्र पर उन देशों को दर्शाइए जिन पर जर्मनी ने 1936 और अगस्त 1939 के बीच कब्ज़ा किया।
2. एशिया के मानचित्र पर उन क्षेत्रों को दर्शाइए जो द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जापान के कब्ज़े में थे।
3. भारत के स्वतंत्रता आंदोलन पर लिखी गई पुस्तकों से जवाहरलाल नेहरू और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के फासीवाद पर विचार एकत्र करने के प्रयास कीजिए।
4. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विकसित किए गए नए अस्त्रों के बारे में अध्ययन कीजिए। इन अस्त्रों की विनाशकारी शक्ति की उन अस्त्रों की विनाशकारी शक्ति से तुलना कीजिए जो द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान प्रयोग किए गए थे।

विचार और वाद-विवाद के लिए

1. क्या आप मानते हैं कि फासीवादी शक्तियों के तुष्टीकरण की पश्चिमी देशों की नीति ने दूसरे विश्वयुद्ध को जन्म दिया ? अपने उत्तर के समर्थन में दलीलें दीजिए।
2. तुष्टीकरण की नीति का मूल कारण क्या था ?
3. क्या आप मानते हैं कि जापान के ख़िलाफ़ संयुक्त राज्य द्वारा परमाणु बम का उपयोग उचित था ? अपने उत्तर की व्याख्या कीजिए।

अध्याय 5.

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की दुनिया

दूसरा विश्वयुद्ध 1945 में समाप्त हो गया। उसके बाद से दुनिया का पूरी तरह कायाकल्प हो गया है। इसका राजनीतिक नक्शा भी बदल चुका है। विश्वयुद्ध के पहले कुछ मुट्ठी-भर यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों का जो प्रभाव और प्रभुत्व था, वह अतीत की कहानी बन चुका है। पहले काफ़ी बड़ी संख्या में एशियाई और अफ़्रीकी देश उपनिवेशवादी शासन के अधीन थे, इन देशों का अब स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उदय हुआ है। विश्व की गतिविधियों के संदर्भ में अब जो भी विचार-विमर्श चलता है, उसमें इन देशों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सबसे बड़ी शक्ति के रूप में संयुक्त राज्य अमरीका का उदय हुआ और युद्ध में भयानक तबाही झेलने के बाद भी सोवियत संघ बड़ी ताकत के रूप में सामने आया। एक अन्य बात भी देखने में आई कि युद्ध के पहले अकेले सोवियत संघ समाजवाद का प्रवक्ता था लेकिन युद्ध के बाद सोवियत संघ के अलावा अनेक देशों ने इसको स्वीकार कर लिया।

दो विश्वयुद्धों के बीच कुल तीस वर्ष का अंतराल है। इसको अल्प-अवधि ही माना जाएगा। इनमें काफ़ी बड़ी संख्या में लोगों को अपने प्राण गँवाने पड़े थे। इसके बाद एक नए विश्वयुद्ध का खतरा पैदा हो गया जिसमें पृथ्वी से मानव-जीवन के समूल विनाश का अंदेशा था। इसके चलते लोगों में जागरूकता आई और स्थाई शांति की ज़रूरत महसूस की गई। इसलिए विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक मित्रता और सहयोग पर आधारित संबंधों के विकास की दिशा में प्रयास शुरू हुए। इस काम के लिए कई नई संस्थाएँ और एजेंसियाँ स्थापित की गईं। बहरहाल, इन कोशिशों के बावजूद दूसरे विश्वयुद्ध के बाद का समय दबावों और तनावों से भरपूर रहा है। इस दौर में अनेक टकराव और युद्ध हुए, जिनमें बहुत बड़ी संख्या में लोग मारे गए यद्यपि विश्व किसी बहुत बड़े विध्वंस की आग में जलने से बचा रहा।

इस सदी के नवें दशक के आखिरी सालों से दुनिया के कुछ हिस्सों में कुछ दूसरी तरह के परिवर्तन हुए। पिछले तकरीबन पाँच सालों के दौरान हुई कुछ घटनाओं ने दूसरे विश्वयुद्ध के, यहाँ तक कि पहले युद्ध के कारण हुए कुछ परिवर्तनों को भी पलट दिया। इस अवधि में विश्व के राजनीतिक मंच पर जो मुद्दे प्रमुख हो गए थे और जिन शक्तियों और कारकों ने दुनिया की शक्ल को बदला था, उनमें से कुछ अब बेमानी हो चुके हैं। रूसी क्रांति के बाद अनेक देशों की नीति-निर्धारण में साम्यवाद का ख़ौफ़ प्रमुख कारक रहा है और दूसरे युद्ध के बाद की अवधि में देखें तो यह बात और भी सच है लेकिन आज की परिस्थिति के हिसाब से देखें तो अब साम्यवाद का भय कोई मुद्दा नहीं रह गया है। सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के अन्य देशों में अब साम्यवादी शासन समाप्त हो चुका है। अब सोवियत संघ 15 स्वतंत्र राज्यों में बँट चुका है। समूची दुनिया में कई तरह के और परिवर्तन भी हुए हैं और हम अब शायद यह भी कह सकते हैं कि इस सदी के नौवें दशक के अंतिम वर्षों से दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की दुनिया के इतिहास में सर्वथा नए चरण की शुरुआत होती है।

दूसरे विश्वयुद्ध के तात्कालिक नतीजे

विश्वयुद्ध के दौरान प्रमुख मित्र-राष्ट्रों ने अनेक सम्मेलन आयोजित किए तथा अनेक घोषणा-पत्र जारी किए जिनके आधार पर आगे चलकर शांति कायम की जानी थी। इस

आशय का पहला घोषणा-पत्र 1941 में ब्रिटेन और अमरीका की तरफ़ से जारी किया गया। इसमें कहा गया था कि अमरीका तथा ब्रिटेन किसी भू-भाग की माँग नहीं करेंगे। इस घोषणा-पत्र में इस बात का समर्थन किया गया था कि हर राष्ट्र को यह पूरा हक है कि वह अपनी इच्छा के मुताबिक अपनी सरकार का ढाँचा चुने। जैसा पहले बताया गया है, 1942 के आरंभ में संयुक्त राष्ट्र संघ का घोषणा-पत्र जारी हुआ था। इस घोषणा-पत्र में ब्रिटेन तथा अमरीका द्वारा जारी किए गए उपर्युक्त घोषणा-पत्र का समर्थन किया गया था। एक अन्य घोषणा-पत्र में कहा गया था कि जापान ने चीन का जो भी भू-भाग अपने कब्ज़े में कर रखा है, उसे चीन को वापस कर दिया जाएगा। 1943 में ब्रिटिश नेता चर्चिल, अमरीकी नेता रूज़वेल्ट तथा रूसी नेता जोसेफ स्तालिन तेहरान में मिले। उन्होंने अपने इस संकल्प की घोषणा की कि " युद्ध की विभीषिका और आतंक को हमेशा के लिए समाप्त किया जाएगा'' और ऐसे विश्व की रचना की जाएगी जिसमें सब राष्ट्र 'आतंक और अत्याचार से मुक्त अपनी-अपनी इच्छा और मन के अनुसार स्वतंत्र जीवन-यापन कर सकेंगे"।

1945 के आरंभ में जब जर्मनी की हार निश्चित हो चुकी थी, तीनों बड़े राष्ट्रों के नेता सोवियत संघ स्थित याल्टा में मिले। यहाँ उन्होंने अनेक विषयों पर विचार-विमर्श किया जिसमें जर्मनी के साथ व्यवहार तथा जर्मनी से मुक्त कराए गए ग़ैर-जर्मन क्षेत्रों के विषय शामिल थे।

याल्टा सम्मेलन में राष्ट्र संघ (लीग ऑफ नेशंस) की जगह एक और संगठन बनाने का फ़ैसला किया गया। बाद में अमरीका के सान फ़्रांसिस्को नगर में 25 अप्रैल, 1945 से एक सम्मेलन आरंभ हुआ। इस सम्मेलन में 50 राष्ट्रों ने भाग लिया। 26 जून को सम्मेलन में एक संयुक्त राष्ट्र चार्टर स्वीकृत किया गया जिसके अनुसार एक नया विश्व-संगठन बनाया गया। यह संगठन है – संयुक्त राष्ट्र संघ जो " सभी शांति प्रेमी राज्यों की प्रभुतासंपन्न समानता'' के सिद्धांत की बुनियाद पर बनाया गया। इसके उद्देश्य थे, राष्ट्रों के बीच मित्रता के संबंधों का विकास करना और आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या लोकोपकारी अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग विकसित करना।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ(आगे इसे केवल संयुक्त राष्ट्र कहा गया है) के छ: प्रमुख संगठन स्थापित किए गए। ये हैं: (1) महासभा–इसमें संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य देश शामिल होते हैं। (2) सुरक्षा परिषद्–इसके 11 सदस्य होते थे। इनमें पाँच स्थायी सदस्य हैं। ये हैं–संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ (अब रूस), ब्रिटेन, फ़्रांस और चीन। शेष छ: सदस्य अस्थायी थे। इनका चुनाव महासभा दो वर्षों के लिए करती है। सुरक्षा परिषद् की प्रमुख ज़िम्मेदारी शांति और सुरक्षा बनाए रखना है। बाद में अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ाकर दस कर दी गई। (3) आर्थिक और सामाजिक परिषद्–18 सदस्यों वाले इस संगठन का उद्देश्य "सभी के मानवीय अधिकारों और मूलभूत स्वतंत्रता के प्रति आदर तथा उनके पालन की भावना'' विकसित करना है। (4) न्यासिता परिषद् (ट्रस्टीशिप कौंसिल) (5) अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय, और (6) सचिवालय–इसका प्रमुख, महासभा द्वारा निर्वाचित महासचिव होता है।

इनके अलावा अनेक विशेषीकृत संगठनों की स्थापना भी की गई। इनमें से कुछ हैं – संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को), विश्व स्वास्थ्य संगठन, खाद्य और कृषि संगठन, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (इसकी स्थापना प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुई थी), आदि। यह महसूस किया गया कि अगर किसी विषय पर सुरक्षा

याल्टा में विंस्टन चर्चिल, फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट और जोसेफ स्तालिन, फरवरी 1945

परिषद् के सभी पाँच स्थायी सदस्य (जो उस समय के प्रमुख शक्तिशाली देश थे) आपस में सहमत नहीं होते, तो शांति और सुरक्षा के बनाए रखने से संबंधित कोई भी कार्यवाही सफल नहीं हो सकती। इसलिए यह व्यवस्था की गई कि सुरक्षा परिषद् के किसी भी निर्णय के लिए पाँचों स्थायी सदस्यों का समर्थन आवश्यक होगा।

संयुक्त राष्ट्र की स्थापना द्वितीय विश्वयुद्ध के सबसे महत्वपूर्ण परिणामों में से एक थी।

पोट्सडम सम्मेलन

ब्रिटेन, अमरीका और सोवियत संघ के शासनाध्यक्षों का एक और बड़ा सम्मेलन 1945 में 17 जुलाई से 2 अगस्त तक बर्लिन के करीब पोट्सडम में हुआ। इस सम्मेलन के बाद जारी घोषणा में जर्मनी के बारे में मित्र-राष्ट्रों के उद्देश्यों को सामने रखा गया था। जर्मनी तब तक आत्मसमर्पण कर चुका था। उसे चार क्षेत्रों में बाँटा गया था और ब्रिटेन, अमरीका, फ़्रांस और सोवियत संघ के नियंत्रण में एक-एक क्षेत्र था। घोषणा-पत्र में कहा गया था कि मित्र राष्ट्रों का उद्देश्य जर्मनी का पूर्ण निरस्त्रीकरण करना, नाज़ी पार्टी को नष्ट करना तथा लोकतांत्रिक जर्मनी के निर्माण के लिए परिस्थितियाँ तैयार करना है। यह भी फैसला किया गया कि जिन लोगों ने मानवता के विरुद्ध अपराध किए हैं उन पर मुकदमा चलाने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण (ट्रिब्यूनल) बनाया जाएगा। पोलैंड और जर्मनी की सीमा निर्धारित करने तथा पूर्वी प्रशिया के उत्तरी भाग को सोवियत संघ तथा दक्षिणी भाग को पोलैंड के हवाले करने के फैसले भी किए गए।

युद्ध के दौरान तथा उसके बाद हुए इन विभिन्न सम्मेलनों ने युद्ध के बाद की राजनीतिक घटनाओं को प्रभावित किया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप

सोवियत सेनाओं ने यूरोप के अनेक देशों को जर्मन दासता से मुक्त कराया। ये देश थे–पोलैंड, हंगरी, रूमानिया, बुल्गारिया और चेकोस्लोवाकिया।

इन देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों और फ़ासीवाद-विरोधी दूसरी पार्टियों ने जर्मन दासता के ख़िलाफ़ संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। 1948 के अंत तक इन सभी देशों की सरकारों पर कम्युनिस्ट पार्टियों का नियंत्रण द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की महत्वपूर्ण घटना है। द्वितीय विश्वयुद्ध तक दुनिया में और यूरोप में केवल सोवियत संघ ही वह देश था जहाँ कम्युनिस्ट पार्टी का शासन था। अब अनेक यूरोपीय देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों का शासन स्थापित हो गया। इन देशों में दूसरी पार्टियाँ बनाने की छूट या तो दी ही नहीं गई या उनका अस्तित्व नाम-मात्र का था। राजनीतिक सत्ता पूरी तरह कम्युनिस्ट पार्टियों के हाथों में थी। इन देशों में सोवियत सेनाओं की मौजूदगी वहाँ सत्ता पर कम्युनिस्ट पार्टियों के एकाधिकार के बने रहने की जमानत थी। कभी-कभी कम्युनिस्ट पार्टियों के वर्चस्व का विरोध करने वाले आंदोलनों को कुचलने के लिए सोवियत सेनाओं का इस्तेमाल भी किया गया। खुद कम्युनिस्ट पार्टियों के अंदर नीतिगत मतभेदों को व्यक्त करने की छूट न थी और पार्टियों के अंदर भी कुछेक लोगों के ही हाथों में शक्ति थी। जैसा कि सोवियत संघ में हुआ कि शासक दल के भीतर भी मतभेद बर्दाश्त नहीं किया जाता था। बहुत से दिग्गज कम्युनिस्ट नेताओं को या तो गोली मार दी गई अथवा उन पर नकली मुकदमे चलाए गए और उसके बाद उनको लंबे समय के लिए जेल में डाल दिया गया। इन देशों को कभी-कभी सोवियत संघ के "उपग्रह" भी कहा जाता था। यूगोस्लाविया की कम्युनिस्ट पार्टी शासन कर रही अकेली कम्युनिस्ट पार्टी थी जिसने सोवियत संघ के वर्चस्व को मानने से इन्कार कर दिया पर साथ ही यूगोस्लाविया की सरकार ने भी दूसरी राजनीतिक पार्टियाँ बनाने की छूट नहीं दी।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के चार वर्षों के भीतर-भीतर कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं, जिनके कारण जर्मनी का विभाजन हो गया। ब्रिटेन, फ़्रांस, अमरीका और सोवियत संघ, ये चार शक्तियाँ जर्मनी के चार हिस्सों पर नियंत्रण बनाए हुए थीं। वे अपने-अपने क्षेत्रों में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के प्रति भिन्न-भिन्न नीतियाँ अपना रही थीं। ब्रिटिश, फ़्रांसीसी और अमरीकी क्षेत्रों में पूँजीवादी ढर्रे का आर्थिक विकास जारी रहा। इन क्षेत्रों की दो प्रमुख पार्टियाँ – क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टी और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी थीं। 1948 में ब्रिटेन, फ्रांस और

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का यूरोप
नार्वे
स्वीडन
फिनलैंड
आयरलैंड
डबलिन
उत्तरी सागर
डेनमार्क
बाल्टिक सागर
मास्को
सोवियत संघ
ग्रेट ब्रिटेन
लंदन
हालैंड
बर्लिन
पूर्वी जर्मनी
वारसा
पोलैंड
बेल्जियम
बॉन
पेरिस
लक्समबर्ग
प्राग
अटलांटिक महासागर
पश्चिमी जर्मनी
चेकोस्लोवाकिया
फ्रांस
स्विटज़रलैंड
आस्ट्रिया
बुडापेस्ट
हंगरी
रोमानिया
बुखारेस्ट
बेलग्रेड
पुर्तगाल
मदरिद
स्पेन
इटली
रोम
यूगोस्लाविया
बुल्गारिया
सोफिया
अल्बानिया
काला सागर
एथेन्स
ग्रीस
साइप्रस
भूमध्य सागर
समाजवादी देश
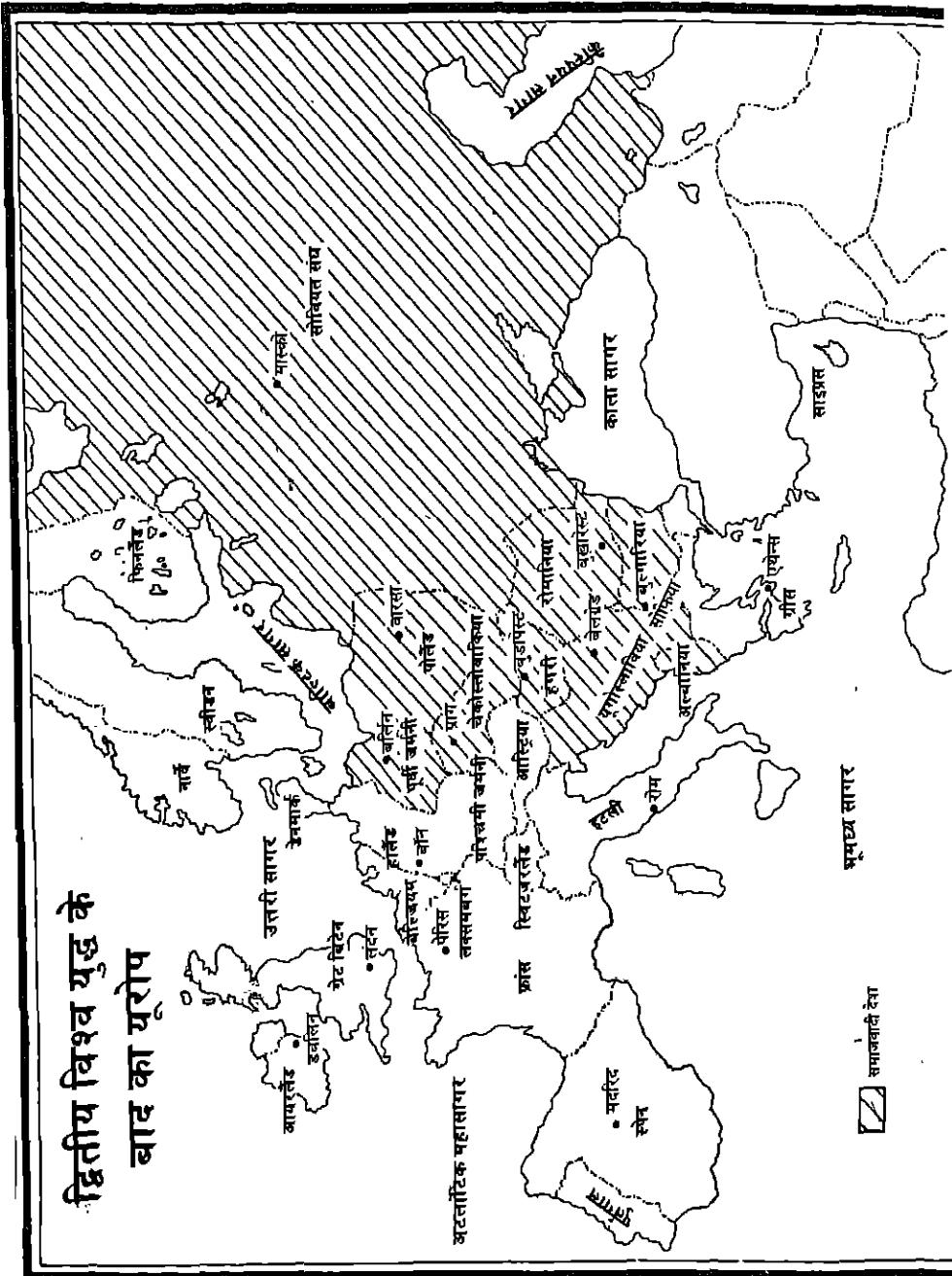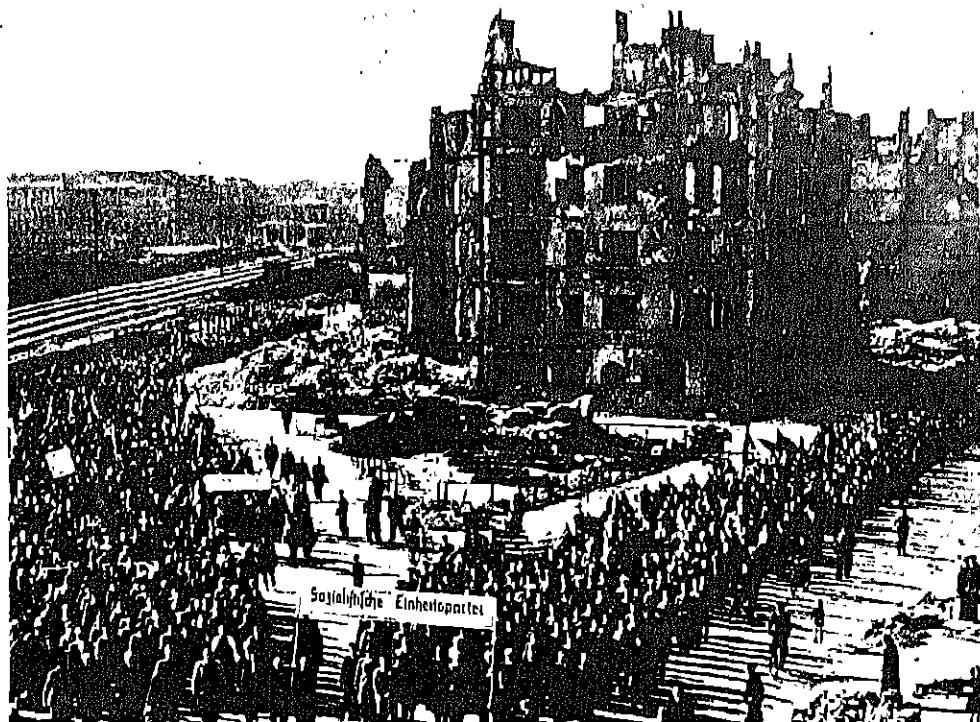
जर्मनी की सोशलिस्ट यूनिटी पार्टी के गठन के उपलक्ष में बर्लिन में आयोजित रैली, अप्रैल 1946

अमरीका ने निर्णय किया कि वे पश्चिमी जर्मनी में स्थित अपने क्षेत्रों को एक में मिलाकर वहाँ एक अलग सरकार बनाएँगे। सितंबर 1949 में इन क्षेत्रों को मिलाकर एक कर दिया गया। इसे ही जर्मन संघीय गणराज्य नाम दिया गया, जिसकी राजधानी बॉन थी। सोवियत नियंत्रण वाले पूर्वी जर्मनी में अपनाई जा रही नीतियाँ पश्चिमी क्षेत्रों में अपनाई जा रहीं नीतियों से भिन्न थीं। यहाँ ज़मीन को किसानों में बाँटा गया था और निजी मालिकों से लेकर प्रमुख उद्योगों को राज्य की संपत्ति बना दिया गया था। 1946 में सोवियत संघ के जर्मन क्षेत्र की कम्युनिस्ट पार्टी और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी एक हो गईं। इस तरह जर्मनी की सोशलिस्ट यूनिटी पार्टी की स्थापना हुई। 1949 में सोवियत नियंत्रण वाला क्षेत्र जर्मन जनवादी गणराज्य के नाम से एक नया राज्य बन गया। सोशलिस्ट यूनिटी पार्टी जर्मन जनवादी गणराज्य की शासक पार्टी हो गई। इस तरह जर्मनी दो राज्यों में बँट गया जिनमें से हरेक का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास का अपना अलग ढर्रा था। दो स्वतंत्र राज्यों में जर्मनी का विभाजन द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रमुख परिणाम था जो लगभग चार दशकों तक चला और उसके बाद जर्मनी का पुनः एकीकरण हो गया।

यूरोप के दूसरे भागों में महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन हुए। फ्रांस और इटली की कम्युनिस्ट पार्टियों ने वहाँ के प्रतिरोध आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। युद्ध के बाद वे बहुत शक्तिशाली पार्टियों के रूप में उभरी थीं। युद्ध के बाद फ्रांस में बनी पहली सरकार में वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी भी शामिल थी मगर आर्थिक नीतियों पर तथा हिंदचीन देशों की स्वतंत्रता के प्रश्न पर मतभेद होने के कारण वह सरकार से अलग हो गई। फ्रांस की सरकार हिंदचीन में फिर से अपना शासन स्थापित करने की कोशिश कर रही थी और कम्युनिस्ट पार्टी इसका विरोध कर रही

थी। इटली की सरकार में कम्युनिस्ट और समाजवादी पार्टियाँ प्रमुख शक्ति थीं। 1946 में राजतंत्र को समाप्त कर दिया गया और इटली एक गणराज्य बन गया। 1947 में क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टी सत्ता में आई और कम्युनिस्ट पार्टी सरकार से अलग हो गई। फिर भी, इन दो देशों में कम्युनिस्ट और समाजवादी पार्टियों के सरकार से बाहर होने के बाद भी वहाँ की राजनीति में वे प्रमुख शक्ति थीं। बाद के कई सालों तक इन दोनों देशों में समाजवादी पार्टियों ने अकेले या दूसरी पार्टियों से मिलकर सरकारें बनाई। मगर 1948 के बाद के लगभग पूरे दौर में कम्युनिस्ट पार्टियों को सरकार से बाहर रखा गया। हाल के वर्षों में जहाँ इटली की कम्युनिस्ट पार्टी (इसे अब वामपंथी लोकतांत्रिक पार्टी के नाम से जाना जाता है) काफी शक्तिशाली बनी रही, वहीं फ्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव कम हुआ।

ब्रिटेन में जुलाई 1945 में चुनाव हुए। कंज़र्वेटिव पार्टी के नेता विंस्टन चर्चिल युद्ध के दौरान प्रधानमंत्री थे। उनकी पार्टी हार गई और लेबर पार्टी सत्ता में आई। भारत भी इस काल में आज़ाद हो गया। लेबर पार्टी के शासन के दौरान देश की अर्थव्यवस्था में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन आए। कोयला-खदानों और रेलों जैसे अनेक महत्वपूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। जनता को सामाजिक सुरक्षा देने तथा ब्रिटेन में एक कल्याणकारी राज्य स्थापित करने के कदम उठाए गए। 1951 में कंज़र्वेटिव पार्टी फिर से सत्ता में आई और 1964 में लेबर पार्टी का शासन फिर से स्थापित हुआ। इस तरह ये दोनों पार्टियाँ कभी लंबे समय तक सत्तारूढ़ नहीं रहीं। ये दोनों पार्टियाँ शक्ति में कमोबेश बराबर थीं।

पश्चिमी यूरोप के अधिकांश देशों की राजनीतिक प्रणाली सरकार की संसदीय पद्धति पर आधारित थी। उनकी अर्थव्यवस्था को गहरा धक्का लगा था और इससे उनकी अंतर्राष्ट्रीय स्थिति भी प्रभावित हुई थी। अपने प्रयासों से और भारी-भरकम अमरीकी सहायता के सहारे धीरे -धीरे इन देशों ने अपनी अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण आरंभ किया फिर भी प्रथम विश्वयुद्ध से पहले तक और कुछ हद तक उसके बाद भी दुनिया पर इन देशों का जो दबदबा था, वह ऐसा कम हुआ कि फिर पलटकर न आ सका। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उनके साम्राज्यों का तेज़ी से पतन हुआ।

शीतयुद्ध

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद संयुक्त राज्य अमरीका सबसे बड़ी शक्ति के रूप में उभरकर सामने आया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उसकी शक्ति उन यूरोपीय देशों के मुकाबले और भी तेज़ी से बढ़ी जिनका सदियों से दुनिया पर प्रभुत्व था। आर्थिक और सैनिक शक्ति, दोनों के बारे में यह बात सच थी। उसके परमाणु बम बना लेने के बाद उसकी शक्ति और भी अधिक हो गई। उस समय अमरीका अकेला देश था जिसके पास परमाणु बम था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सोवियत संघ अमरीका के बाद दूसरी बड़ी ताकत बनकर उभरा। युद्ध में उसे बाकी सभी देशों से अधिक नुकसान उठाना पड़ा था। युद्ध में उसकी दो करोड़ जनता मारी गई थी और उसके सैंकड़ों नगर तथा हज़ारों कारख़ाने पूरी तरह नष्ट हो चुके थे। मगर इन तबाहियों के बावजूद उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ी। कुछ हद तक इसका कारण जर्मनी को हराने में उसकी भूमिका थी। क्रांति के बाद से ही उसे बहिष्कार तथा दूसरी बड़ी ताकतों की खुली दुश्मनी का सामना करना पड़ रहा था। मगर जैसा कि कहा जा चुका है, युद्ध के बाद अनेक यूरोपीय देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों का शासन कायम हुआ। इन देशों की सरकारों पर सोवियत संघ का बहुत अधिक प्रभाव था। इन घटनाक्रमों के कारण सोवियत संघ का अलगाव समाप्त हो गया। इसके अलावा यूरोप और एशिया के अनेक देशों में कम्युनिस्ट पार्टियाँ युद्ध के बाद बहुत शक्तिशाली बनकर उभरी थीं। ये पार्टियाँ आमतौर पर सोवियत संघ की समर्थक थीं। इनमें से कुछ पार्टियाँ अपने-अपने देश में क्रांति का संगठन करने में सक्रिय थीं। उदाहरण के लिए, यूनान (ग्रीस) में जर्मन कब्ज़े के ख़िलाफ़ प्रतिरोध-आंदोलन में कम्युनिस्टों की अग्रणी भूमिका रही थी। यूनान से जर्मन सेनाओं के पीछे हटने के बाद देश का एक बड़ा हिस्सा कम्युनिस्टों के नियंत्रण में आ गया मगर युद्ध की समाप्ति के बाद वहाँ राजतंत्र पुन: स्थापित हुआ और नई सरकार ने कम्युनिस्टों का दमन आरंभ कर दिया। इसके कारण गृहयुद्ध छिड़ गया जो 1949 तक चला। इस गृहयुद्ध में कम्युनिस्टों की हार हुई।

युद्ध के दौरान ब्रिटेन, अमरीका और सोवियत संघ मिलकर फ़ासीवादी देशों से लड़े थे। युद्ध के दौरान जारी अनेक घोषणाओं में कहा गया था कि इन देशों की एकता युद्ध के बाद भी जारी रहेगी और वह स्थायी शांति और अंतर्राष्ट्रीय भाईचारे का आधार होगी। इन घोषणाओं ने पूरी दुनिया में आशा का संचार किया था। युद्ध अभी समाप्त हुआ ही था कि एक तरफ़ ब्रिटेन और अमरीका और दूसरी तरफ़ सोवियत संघ के बीच टकराव और तनाव उभरने लगे। उनके संबंध बिगड़ने लगे। उनके बीच शीत युद्ध (कोल्ड वार) आरंभ हो गया। यह शीत युद्ध धीरे-धीरे और तीखा होता गया और दुनिया दो ख़ेमों में बँट गई। इनमें से एक ख़ेमा अमरीका और पश्चिमी यूरोप के देशों का था और दूसरा ख़ेमा सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों का। यह शीत युद्ध कभी-कभी गर्म भी हुआ पर लड़ाई ख़ास-ख़ास क्षेत्रों तक ही सीमित रही।

शीत युद्ध के छिड़ने का सबसे महत्वपूर्ण कारण कम्युनिज्म के प्रति पश्चिमी देशों का भय था। सोवियत संघ की ताक़त बढ़ी थी, पूर्वी और मध्य यूरोप के देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों का शासन स्थापित हुआ था और दुनिया के कई भागों में कम्युनिस्ट पार्टियों का असर बढ़ा था। इन सब बातों ने अमरीका, ब्रिटेन और दूसरे पश्चिमी यूरोपीय देशों की सरकारों को डरा दिया। चीन में दो दशकों से जारी गृहयुद्ध में 1949 में कम्युनिस्टों की विजय हुई तो यह डर और भी बढ़ गया। अमरीका ने खुली घोषणा की कि उसका उद्देश्य कम्युनिज़्म के विस्तार को रोकना है। पश्चिमी यूरोप के देशों को अमरीका ने जो भारी आर्थिक सहायता दी उसका एक उद्देश्य कम्युनिज़्म को फैलने से रोकना भी था। अमरीका दुनिया की हरेक घटना को अब इसी दृष्टि से देखने लगा कि इससे कम्युनिज्म फैलेगा या उसे रोकने में मदद मिलेगी। ब्रिटेन और पश्चिमी यूरोप के देश अमरीका के साथ हो गए और वे भी ऐसी नीतियाँ अपनाने लगे जिनका उद्देश्य कम्युनिज़्म के प्रसार को रोकना था। लोकतंत्र पर तथा उपनिवेशों के स्वतंत्रता आंदोलनों पर इसके विपरीत प्रभाव पड़े। लोगों की स्वतंत्रता कम कर दी गई। उदाहरण के लिए अमरीका में इसे राष्ट्रीय सुरक्षा तथा कम्युनिस्ट प्रभाव को कम करने के नाम पर उचित ठहराया गया। जो देश खुद उपनिवेशवादी न थे परंतु औपनिवेशिक शक्तियों के साथ थे, वे अनेक देशों के स्वाधीनता आंदोलनों को विरोध की दृष्टि से देखने लगे। उदाहरण के लिए हिंदचीन के स्वाधीनता आंदोलन को कुचलने के लिए अमरीका ने फ़्रांस की सहायता की। जो देश स्वतंत्र नीति अपनाना और सोवियत संघ के साथ अच्छे संबंध बनाना चाहते थे, उनको शंका की दृष्टि से देखा जाने लगा। इन सभी कारणों से अंतर्राष्ट्रीय स्थिति तनावपूर्ण हो गई। इसके कारण कुछ क्षेत्रों में युद्ध भड़के और अनेक दूसरे क्षेत्रों में टकराव लंबे खिंच गए।

सैनिक गुटों की स्थापना के कारण विश्व में बढ़ रहे तनाव और भी भयानक हो गए। सोवियत संघ से रक्षा के लिए 1949 में उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) की स्थापना हुई। इस संगठन के सदस्य देश अमरीका, कनाडा, डेनमार्क, नार्वे, आइसलैंड, पुर्तगाल, ब्रिटेन, फ़्रांस, बेल्जियम, हालैंड और लक्ज़मबर्ग थे। तुर्की, यूनान संघीय जर्मन गणराज्य और स्पेन बाद में इसके सदस्य बने। एक नाटो सेना का गठन किया गया और यूरोप के अनेक देशों में उसके अड्डे बनाए गए। दुनिया के दूसरे भागों में भी अमरीका और ब्रिटेन ने ऐसे ही सैनिक संगठन बनाए। 1954 में दक्षिण-पूर्वी एशिया संधि संगठन (सिएटो) बनाया गया जिसके सदस्य अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, थाईलैंड, फिलिपीन्स, पाकिस्तान और ईरान थे। 1955 में बगदाद पैक्ट (समझौता) के नाम से एक संगठन बनाया गया। इसमें टर्की, ब्रिटेन, इराक, पाकिस्तान एवं ईरान शामिल थे। अमरीका ने तथाकथित कम्युनिस्ट आक्रमण के खतरे के मुकाबले के लिए दुनिया भर में अपने सैनिक अड्डे बनाए। इन संगठनों और सैनिक अड्डों की स्थापना ने पहले से ही तनावपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को और भी बिगाड़ा। जो देश इन संगठनों के सदस्य न थे, वे इन संगठनों और सैनिक अड्डों को शांति और अपनी स्वाधीनता के लिए खतरा समझने लगे। इन संगठनों के कुछ सदस्य देशों में ये संगठन बहुत ही बदनाम हुए। उदाहरण के लिए जब 1958 में इराक में क्रांति हुई तो वह बगदाद समझौते से अलग हो गया हालांकि समझौते का नाम तब उसी के नाम पर रखा गया था। तब समझौते का नाम बदलकर मध्य संधिय संगठन (सेंटो) कर दिया गया। चूँकि यूरोप के सभी साम्राज्यवादी देश इन संगठनों के सदस्य थे और अपनी

सदस्यता का इस्तेमाल वे स्वाधीनता-आंदोलनों को कुचलने के लिए भी कर रहे थे, इसलिए ये संगठन एशिया और अफ्रीका के देशों में आमतौर पर बदनाम थे। एशिया और अफ्रीका के स्वाधीनता प्राप्त कर चुके अधिकांश देशों ने इन संगठनों के सदस्य बनने से इन्कार कर दिया। इन पश्चिमी संगठनों या पश्चिमी देशों द्वारा प्रायोजित संगठनों के मुकाबले सोवियत संघ और यूरोप के समाजवादी देशों – पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, रूमानिया, जर्मन जनवादी गणराज्य और बुल्गारिया – ने वारसा संधि की स्थापना की। इस संधि के अनुसार सोवियत संघ ने इन देशों में अपनी सेनाएँ नियुक्त कीं। मगर सोवियत संघ या वारसा संधि के देशों ने दुनिया के दूसरे भागों में सैनिक अड्डे नहीं बनाए। सोवियत संघ ने चीन के साथ मित्रता और पारस्परिक सहयोग की संधियाँ भी कीं।

सैनिक अड्डों की स्थापना के साथ एक और ख़तरनाक घटना हुई। यह थी – विनाशकारी हथियारों की दौड़। द्वितीय विश्वयुद्ध के अंतिम दिनों में जापान के ख़िलाफ़ दो परमाणु बमों के प्रयोग के बारे में आप पढ़ चुके हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के लगभग चार वर्षों तक अमरीका परमाणु बमों वाला अकेला देश था। 1949 में सोवियत संघ ने अपने पहले परमाणु बम का परीक्षण किया। कुछ ही वर्षों में ऐसे नाभिकीय हथियार विकसित हो गए जो जापान पर गिराए गए बमों से हज़ारों गुना अधिक विनाशकारी थे। ये थे – ताप नाभिकीय अर्थात हाइड्रोजन बम। इन बमों के मात्र परीक्षण से ही जीवन के लिए गंभीर खतरे उत्पन्न हो गए। नाभिकीय हथियारों के परीक्षण और उत्पादन पर प्रतिबंध लगाने के लिए दुनिया के सभी भागों में अनेक आंदोलन उठ खड़े हुए। आइंस्टाइन और लाइनस पालिंग जैसे अधिकांश प्रमुख वैज्ञानिकों ने भी इस माँग का समर्थन किया फिर भी दुनिया में नाभिकीय हथियारों का ज़ख़ीरा बढ़ता ही गया। आज दुनिया में इतने अधिक नाभिकीय बम हैं कि पूरी दुनिया को एक नहीं कई बार नष्ट किया जा सकता है। नाभिकीय बमों तथा दूसरे हथियारों के साथ-साथ नए-नए बमवर्षकों, पनडुब्बियों और प्रक्षेपास्त्रों का भी विकास हुआ है जो इन हथियारों को हज़ारों मील दूर तक ले जा सकते हैं। हथियारों की यह दौड़ जो शीत युद्ध के अंग के रूप में आरंभ हुई, आज स्वयं मानवजाति के अस्तित्व के लिए ख़तरा बन गई है। इन हथियारों के विकास पर बेपनाह धन ख़र्च किया गया है। अगर इन संसाधनों को शांतिमय कार्यों में ख़र्च किया जाए तो पूरी दुनिया में अभाव और ग़रीबी के मारे करोड़ों लोगों का जीवन सुखमय बनाने के लिए बहुत कुछ किया जा सकता था।

जैसा कि कहा जा चुका है, एशिया और अफ्रीका के कई नवस्वाधीन राष्ट्र और दूसरे महाद्वीपों के भी अनेक राष्ट्र सैनिक गुटों में शामिल नहीं हुए। वे किसी भी सैनिक गुट से निरपेक्ष रहने की नीति पर चलने लगे। इन राष्ट्रों के उदय ने शीत युद्ध की तीव्रता को कम करने में और शांति का वातावरण बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। गुटनिरपेक्षता और शांति की नीति को आगे बढ़ाने में निर्णायक भूमिका भारत ने अपनी स्वाधीनता के बाद निभाई।

एशिया और अफ्रीका का उदय

एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रवाद के उदय और विकास का संक्षिप्त वर्णन अध्याय 4 में किया गया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के काल में एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देश स्वतंत्र हो गए। इन महाद्वीपों में एक के बाद एक देश स्वतंत्र होता चला गया। उन्होंने औपनिवेशिक शक्तियों के ख़िलाफ़ लंबे और कड़े संघर्ष चलाकर अपनी आज़ादी हासिल की। कुछ देशों को आज़ादी औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध लंबे और कड़े संघर्ष के बाद ही मिली। कुछेक में आज़ादी ज़्यादा ख़ून बहाए बिना मिली, परंतु लंबा संघर्ष उनको भी करना पड़ा। औपनिवेशिक शक्तियाँ आमतौर पर उपनिवेशों पर अपना कब्ज़ा छोड़ने को तैयार न थीं और वे वहाँ से तभी हटीं जब उन्होंने देखा कि और आगे वहाँ अपना शासन जारी रख सकना संभव नहीं है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अनेक साम्राज्यवादी देश अपने उपनिवेशों से खदेड़ दिए गए, परंतु युद्ध के बाद उन्होंने वहाँ फिर से अपना शासन कायम करने की कोशिशें कीं। कुछ समय तक वे इसमें सफल भी रहे, परंतु अंततः उन्हें अपना बोरिया बिस्तर बाँधकर भागना पड़ा।

उपनिवेशों की स्वतंत्रता मुख्यतः वहाँ की जनता के

संघर्षों की देन थी मगर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय वातावरण में हुए परिवर्तनों ने भी औपनिवेशिक जनता को स्वाधीनता पाने में मदद पहुँचाई। युद्ध के फलस्वरूप साम्राज्यवाद बहुत कमजोर हो गया था। अनेक साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्था को धक्का लगा था। खुद साम्राज्यवादी देशों में वे शक्तियाँ जो उपनिवेशों की जनता के स्वाधीनता-संघर्षों से सहानुभूति रखती थीं, बहुत ताकतवर बन गई थीं। स्वाधीनता और लोकतंत्र–यही वे प्रमुख उद्देश्य थे, जिन्हें लेकर मित्र-राष्ट्रों ने फ़ासीवादी देशों का मुकाबला किया था और पूरे विश्व के जनगणों को फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ उभारने में इन्हीं उद्देश्यों का उपयोग किया गया था। इन उद्देश्यों का पालन अब केवल यूरोप तक सीमित नहीं रह सकता था, जैसा कि प्रथम विश्व युद्ध के बाद किया गया था। फ़ासीवादी देशों ने अनेक उपनिवेशों से पहले की औपनिवेशिक शक्तियों को खदेड़कर उन पर कब्ज़ा किया था। इन उपनिवेशों में फ़ासीवादी कब्ज़े के ख़िलाफ़ लड़ाई में वहाँ के स्वाधीनता आंदोलनों की प्रमुख भूमिका रही थी। उदाहरण के लिए पूर्वी और दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों पर कब्ज़ा करने के बाद जापान को वहाँ के स्वाधीनता-संघर्षों के विरोध का सामना करना पड़ा था। इन देशों में पहले की औपनिवेशिक शक्तियों के शासन को फिर से स्थापित करना आसान न था।

साम्राज्यवाद के पतन में तेज़ी लाने वाला एक और महत्वपूर्ण कारण था–एक प्रमुख शक्ति के रूप में सोवियत संघ और अन्य समाज़वादी देशों का उदय। ये देश साम्राज्यवाद के शत्रु थे और उपनिवेशों के स्वाधीनता आंदोलनों को अक्सर सहायता और समर्थन देते रहते थे। इस तरह उपनिवेशों समेत पूरी दुनिया में ताकतवर हो चुके समाजवादी आंदोलन भी उपनिवेशों के स्वाधीनता-आंदोलनों का समर्थन करते थे

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्वाधीनता-आंदोलनों का पूरा अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ ही बदल चुका था। अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर और ख़ासकर संयुक्त राष्ट्र संघ में उपनिवेशों की स्वतंत्रता की माँग ज़ोर पकड़ने लगी। अंतर्राष्ट्रीय जनमत स्पष्ट रूप से साम्राज्यवाद के जारी रहने का विरोधी था। अपना शासन बनाए रखने के लिए साम्राज्यवादी देशों ने अनेक उपायों का सहारा लिया। उन्होंने स्वाधीनता के आंदोलनों में फूट डालने की कोशिशें कीं या आतंक का सहारा लिया। कुछ देशों में उन्होंने ऐसी सरकारें बनाने की कोशिशें की जो कहने को तो स्वतंत्र थीं पर वास्तव में उनकी पिट्ठू थीं। मगर अधिकांश स्वाधीनता-आंदोलन अपने को कमज़ोर बनाने के इन तरीकों को नाकाम बनाने में सफल रहे।

एशियाई और अफ़्रीकी देशों द्वारा स्वाधीनता प्राप्ति में एक महत्वपूर्ण भूमिका उस एकता की रही जो विभिन्न देशों के स्वाधीनता-आंदोलनों के बीच कायम हुई थी। एक देश का स्वाधीनता आंदोलन दूसरे देशों के स्वाधीनता-आंदोलनों का समर्थन करता रहता था। इस संबध में स्वतंत्रता प्राप्त कर चुके देशों की भूमिका का बहुत नाजुक महत्व था। इन देशों ने अभी भी औपनिवेशिक शासन में रह रहे जनगणों के लक्ष्यों का संयुक्त राष्ट्र और दूसरे अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर समर्थन ही नहीं किया, बल्कि स्वतंत्रता-आंदोलनों को सक्रिय सहायता भी दी। एशिया और अफ़्रीका में स्वाधीनता के लक्ष्य की प्राप्ति में भारत की केंद्रीय भूमिका रही। उपनिवेशों में स्वाधीनता के आंदोलनों के अलावा एशियाई और अफ़्रीकी देशों में पुरानी पड़ चुकी राजनीतिक प्रणालियों को नष्ट करने, सामाजिक और आर्थिक प्रणालियों का आधुनिकीकरण करने और अपने देश के संसाधनों पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए भी आंदोलन चले। ये संसाधन इन देशों की आज़ादी के बाद भी विदेशी नियंत्रण में थे। इन आंदोलनों में एशियाई और अफ़्रीकी जनता की पूर्ण स्वाधीनता पाने और तीव्र सामाजिक-आर्थिक विकास के कार्यक्रम आरंभ करने की आकांक्षा अभिव्यक्त हुई। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के दो दशकों के अंदर-अंदर एशिया और अफ़्रीका का राजनीतिक मानचित्र पूरी तरह बदल चुका था।

एशिया में स्वतंत्र राष्ट्रों का उदय

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कुछेक वर्षों में बड़ी संख्या में एशियाई देश स्वतंत्र हो गए। पहले स्वतंत्रता पाने वालों में एक था - भारत। मगर भारत विभाजित हो गया और भारत के साथ एक और स्वतंत्र राज्य पाकिस्तान नाम से अस्तित्व में आया। 1971 में पाकिस्तान के भी दो टुकड़े हो गए, जब उसका पूर्वी हिस्सा उससे अलग होकर स्वतंत्र राज्य बना

जावा में इंडोनेशिया के स्वतंत्रता समारोह के आयोजन के अवसर पर युवा रैली

जिसे बंगलादेश कहा जाता है। एशिया और अफ़्रीका के स्वाधीनता आंदोलनों के इतिहास में भारत की स्वाधीनता का बहुत अधिक महत्व है। भारत द्वारा अपने पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अपनाई गई नीतियों के कारण दूसरे देशों के स्वाधीनता आंदोलन मज़बूत हुए और उनके स्वतंत्रता आंदोलनों की सफलता की गति बढ़ गई।

भारत की स्वतंत्रता के कुछेक महीनों के अंदर बर्मा (हाल में इसका नाम म्यांमार हो गया है) भी ब्रिटेन से स्वतंत्र हो गया। 1944 में बर्मा में फ़ासीवाद-विरोधी जनसंघर्ष लीग की स्थापना हुई थी। इसका लक्ष्य बर्मा पर जापानी हमले का प्रतिरोध करना और बर्मा को स्वतंत्रता दिलाना था। युद्ध के बाद अंग्रेज़ों ने बर्मा में फिर से अपना शासन स्थापित करने की कोशिश की इसके कारण स्वाधीनता का आंदोलन और तेज़ हुआ। संघर्ष के दौरान बर्मा के स्वाधीनता-आंदोलन के अनेक नेताओं को कत्ल कर दिया गया मगर ब्रिटेन को स्वतंत्रता की माँग माननी पड़ी और बर्मा 4 जनवरी, 1948 को आज़ाद हो गया।

पिछले अध्याय में इंडोनेशिया में राष्ट्रवादी आंदोलन के आरंभ का उल्लेख हो चुका है। जापान की हार के बाद सुकर्णो ने जो इंडोनेशिया के स्वधीनता आंदोलन के संस्थापकों में से थे, इंडोनेशिया की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी मगर डचों के शासन की पुनर्स्थापना में सहयोग देने के लिए जल्द ही ब्रिटिश सेनाएँ वहाँ भेज दी गई। सुकर्णो के नेतृत्व में बनी स्वतंत्र इंडोनेशियाई सरकार ने औपनिवेशिक शासन की पुनर्स्थापना के इन प्रयासों का विरोध किया। इंडोनेशिया में डच शासन फिर से लाने के लिए जो युद्ध आरंभ किया गया था, उसे समाप्त करने की माँग अनेक देशों में उठाई गई। एशियाई देशों में तो इसकी बहुत ही कड़ी प्रतिक्रिया हुई। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के नेताओं ने माँग की कि जिन भारतीय सैनिकों को ब्रिटिश सेना के अंग के रूप में इंडोनेशिया भेजा गया था, उन्हें वापस बुला लिया जाए। स्वतंत्र होने के बाद भारत ने इंडोनेशिया की स्वतंत्रता के समर्थन में एशियाई देशों का एक सम्मेलन बुलाया। यह सम्मेलन नई दिल्ली में 1949 में हुआ और इसने इंडोनेशिया की पूर्ण स्वतंत्रता की माँग की।

इंडोनेशिया जनता के संघर्ष और विश्व-जनमत तथा एशियाई देशों के बढ़ते दबाव के आगे झुककर हालैंड को इंडोनेशियाई नेताओं को रिहा करना पड़ा। 2 नवंबर, 1949 को हालैंड ने इंडोनेशिया की स्वतंत्रता को मान्यता दे दी।

भारत की स्वतंत्रता के कुछ महीनों बाद फ़रवरी 1948 में श्रीलंका भी स्वतंत्र हो गया। थाइलैंड पर जापान का कब्ज़ा था और जापान की हार के बाद वह भी आज़ाद हो गया। युद्ध के दौरान जापान ने फिलिपीन्स से अमरीकी फ़ौजों को खदेड़ दिया था। 1946 में अमरीकी सरकार ने फिलिपीन्स स्वतंत्रता की माँग मान ली। मलाया में युद्ध के बाद ब्रिटिश शासन फिर से स्थापित हो गया था। 1957 में मलाया (अब मलेशिया) एक स्वतंत्र राष्ट्र बन गया।

चीन में क्रांति

चीन की पूर्ण स्वतंत्रता और एकीकरण के लिए डा. सुन यात-सेन के नेतृत्व में कोमिनतांग और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के बीच जो एकता स्थापित हुई थी, आप उसके बारे में पढ़ चुके हैं। सुन यात-सेन की मृत्यु के बाद यह एकता टूट गई। च्यांग-काई-शेक के नेतृत्व में कोमिनतांग और माओ ज़ेडांग (माओ-त्से-तुंग) के नेतृत्व वाली कम्युनिस्ट पार्टी के बीच एक गृहयुद्ध छिड़ गया। चीन पर जापानी हमले के बाद दोनों पार्टियों और उनकी सेनाओं ने जापानी हमले के मुकाबले के लिए कुछ समय तक आपस में सहयोग किया मगर इनके टकराव कभी ख़त्म नहीं हुए। च्यांग-काई-शेक के नेतृत्व में कोमिनतांग मुख्यत: पूँजीपतियों और जमींदारों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली पार्टी थी। दूसरी तरफ़ कम्युनिस्ट पार्टी मज़दूरों और किसानों की पार्टी थी। कम्युनिस्ट पार्टी के नियंत्रण वाले क्षेत्रों में ज़मींदारों की जागीरें ज़ब्त करके ज़मीन को किसानों के बीच बाँट दिया गया था। अपनी नीतियों के कारण कम्युनिस्ट पार्टी ने धीरे-धीरे करोड़ों चीनी जनता को अपना समर्थक बना लिया था। कम्युनिस्ट पार्टी ने जनमुक्ति सेना नाम से एक बड़ी सेना भी बना ली थी। जापान की हार तथा चीन से जापानी सैनिकों के भागने के बाद गृहयुद्ध फिर से भड़क उठा। अमरीकी सरकार ने च्यांग-काई-शेक को भारी मदद दी, पर उसकी सेनाएँ 1949 तक पूरी तरह नष्ट हो चुकी थीं। अपनी बची खुची सेना को साथ लेकर च्यांग-काई-शेक ताइवान (फ़ारमोसा) चला गया। यह चीन का ही एक द्वीप था जिसे 1895 में जापान ने चीन को हराकर अपने कब्ज़े में ले लिया था। अक्तूबर 1949 को चीनी लोक गणराज्य की स्थापना की घोषणा की गई और माओ ज़ेडांग के नेतृत्व में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी सत्ता में आई।

चीन में कम्युनिस्ट क्रांति की विजय दुनिया को हिला देने वाली घटना थी। सबसे अधिक आबादी वाला देश अब कम्युनिस्ट शासन में आ चुका था। यूरोप के समाजवादी देशों के अलावा अब दुनिया की दो प्रमुख शक्तियों—सोवियत संघ और चीन—पर कम्युनिस्ट शासन स्थापित था। चीनी क्रांति के फलस्वरूप एशिया में साम्राज्यवाद और भी कमज़ोर हुआ।

चीनी लोक गणराज्य की स्थापना अमरीका की हार थी। उसने दो दशकों तक चीन की सरकार को मान्यता नहीं दी। अमरीका की राय में ताइवान (फ़ारमोसा) स्थित च्यांग-काई-शेक की सरकार ही चीन की कानूनी सरकार थी। अमरीका के इस रवैये के कारण दुनिया में सबसे अधिक जनसंख्या वाला देश दो दशकों से भी अधिक समय तक संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता नहीं पा सका।

भारत और चीन के बीच अनेक वर्षों तक मित्रतापूर्ण संबंध बने रहे। एशियाई और अफ़्रीकी राष्ट्रों के बीच एकता स्थापित करने में इन दोनों देशों ने साथ मिलकर बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मगर छठे दशक के अंतिम वर्षों में चीन सरकार की विदेश नीति बदलने लगी। 1962 में चीन ने भारत पर हमला कर दिया जिसने भारत और चीन की मित्रता को ही नहीं बल्कि एशियाई और अफ़्रीकी राष्ट्रों की एकता को भी गहरा धक्का पहुँचाया। सोवियत संघ के साथ चीन के संबंध भी बिगड़ने लगे। बहुत वर्षों तक कई मुद्दों पर उसने भारत के ख़िलाफ़ पाकिस्तान का साथ दिया। 1970 के बाद अमरीका के साथ उसके संबंध सुधरने लगे। उसे संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता मिली और अब वह सुरक्षा परिषद् का एक स्थायी सदस्य है।

कोरियाई युद्ध

आप पढ़ चुके हैं कि 1910 में कोरिया जापानी कब्ज़े में आ गया था। द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान की हार के बाद वह

दो भागों में बँट गया। उत्तरी भाग सोवियत नियंत्रण में और दक्षिणी भाग अमरीकी नियंत्रण में था। अमरीकी और सोवियत नियंत्रण का उद्देश्य कोरिया में जापानी सेना से आत्मसमर्पण कराना था और कोरिया को एक स्वतंत्र राष्ट्र बनाना था। मगर यूरोप में जर्मनी में जो कुछ हुआ, उसी तरह कोरिया में भी 1948 में दो अलग-अलग सरकारें बनीं। उत्तरी भाग में कोरियाई कम्युनिस्टों के नेतृत्व में कोरियाई लोक जनवादी गणराज्य की सरकार बनी और दक्षिणी भाग में अनेक पार्टियों की कोरियाई गणराज्य की सरकार बनी जिसका नेतृत्व सिंगमन री कर रहा था। री कम्युनिस्ट-विरोधी था और कम्युनिज़्म के फैलाव को रोकने के लिए च्यांग-काई-शेक के साथ गठबंधन करना चाहता था। दोनों सरकारों ने अपनी-अपनी सेनाएँ बनाईं और उनके बीच अनेकों टकराव हुए। 1948 में सोवियत सेना कोरिया से हट गई। इसके बाद 1949 में अमरीकी सेनाएँ भी हटा ली गईं। कोरिया की दोनों सरकारें देश का एकीकरण चाहती थीं, पर उनकी बातचीत के लिए कोई समान आधार न था।

जून 1950 में उत्तरी और दक्षिणी कोरिया के बीच युद्ध छिड़ गया। तब तक चीन में क्रांति हो चुकी थी और अमरीका को इस क्षेत्र में कम्युनिज़्म के और फैलने का डर था। अमरीका ने युद्ध में दक्षिण कोरिया की सहायता के लिए अपनी सेनाएँ भेजीं। अमरीका से समझौताबद्ध कुछ और देशों ने भी कोरिया के युद्ध में भाग लिया। ये सेनाएँ संयुक्त राष्ट्र की सेनाओं के रूप में लड़ीं क्योंकि संयुक्त राष्ट्र ने एक प्रस्ताव पास करके उत्तरी कोरिया की निंदा की थी और सदस्य-देशों को दक्षिणी कोरिया की सहायता करने को कहा था। मगर अमरीका से समझौताबद्ध कुछ देशों ने ही अपनी सेनाएँ वहाँ भेजीं। अधिकांश विदेशी सेनाएँ अमरीका की थीं। युद्ध में अमरीकी सैनिकों के शामिल हो जाने के बाद चीनी सेनाएँ भी युद्ध में शामिल हो गईं। स्थिति बहुत गंभीर हो गई तथा एक और विश्वयुद्ध के भड़कने का ख़तरा पैदा हो गया, क्योंकि तब तक सोवियत संघ भी परमाणु बम बना चुका था। कोरिया का युद्ध तीन वर्षों तक चला मगर इससे विश्वयुद्ध नहीं भड़का। 1953 में एक शांति-संधि पर हस्ताक्षर किए गए। कोरिया दो अलग-अलग राज्यों में बँटा ही रहा। युद्ध हालाँकि कोरिया तक ही सीमित रहा मगर इसमें लाखों लोग मारे गए जिनमें 1,42,000 अमरीकी भी थे।

कोरियाई युद्ध ने एक नए विश्वयुद्ध का ख़तरा बढ़ा दिया था। इससे दुनिया में मौजूद तनाव और भी बढ़ा और शीत युद्ध में तेज़ी आई।

वियतनाम का संघर्ष

स्वतंत्रता के सबसे बहादुराना संघर्षों में एक संघर्ष वियतनाम की जनता ने चलाया। लाओस और कंबोडिया के साथ वियतनाम हिंदचीन का एक देश है जो फ़्रांस के औपनिवेशिक शासन में था। फ़्रांसीसी सरकार द्वारा जर्मनी के आगे आत्मसमर्पण करने के बाद हिंदचीन के कई भागों पर जापान ने कब्ज़ा कर लिया था। इसके वर्षों पहले ही फ़्रांसीसी शासन से हिंदचीन की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष छिड़ चुका था। वियतनामी जनता के सबसे बड़े नेता हो ची-मिन्ह थे। प्रथम विश्वयुद्ध के तत्काल बाद वियतनाम में कम्युनिस्ट और राष्ट्रवादी आंदोलनों के संगठनों में उनकी प्रमुख भूमिका रही थी। हो ची-मिन्ह के नेतृत्व में वियतनामी जनता ने जापानी कब्ज़े का विरोध किया और वियतमिन्ह नाम से एक जनसेना बनाई। द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्त होने तक वियतनाम के बड़े हिस्से पर वियतमिन्ह का नियंत्रण हो चुका था। अगस्त 1945 में लोकतांत्रिक वियतनामी गणराज्य की स्थापना हुई जिसके राष्ट्रपति हो ची-मिन्ह थे। मगर जापानी सेना का आत्मसमर्पण पूरा कराने का बहाना लेकर ब्रिटेन की ओर से च्याँग-काई-शेक की सेनाएँ वियतनाम में घुस आईं। फ़्रांसीसी शासन की पुनर्स्थापना करने के उद्देश्य से फ़्रांसीसी सेना भी अक्तूबर 1945 में वहाँ पहुँच गई। 1946 में फ़्रांसीसी सेना ने वियतमिन्ह के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ दिया। उसने बाओ-दाई के नेतृत्व में एक सरकार वहाँ बिठा दी। यह व्यक्ति जापानी नियंत्रण के दौरान पिट्ठू सरकार का भी प्रमुख रह चुका था। वियतमिन्ह और फ़्रांस का यह युद्ध आठ वर्षों तक चला। 1954 में दिएन बिएन फू के किले के पास वियतमिन्ह के हाथों फ़्रांसीसी सेना की करारी हार हुई। दिएन बिएन फू में फ़्रांसीसियों की यह हार बहुत चर्चित रही क्योंकि बिना आधुनिक अस्त्रों के एक जनसेना ने एक शक्तिशाली साम्राज्यवादी देश की सेना को युद्ध में हराया था। दिएन बिएन फू की हार के बाद फ़्रांस की सरकार वियतनाम प्रजातांत्रिक गणराज्य सरकार के साथ बातचीत करने को

मजबूर हो गई। जुलाई 1954 में जेनेवा में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया गया। वहाँ वियतनाम को अस्थायी तौर पर दो भागों–उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम–में बाँटने का और दो वर्षों के अंदर पूरे वियतनाम में चुनाव कराने का फैसला हुआ, ताकि एक ही सरकार के अंतर्गत देश का एकीकरण किया जा सके। हिंदचीन के शेष दो देशों, कंबोडिया को 1953 में और लाओस को 1954 में स्वतंत्र कर दिया गया था।

वियतनाम के विभाजन के बाद वहाँ स्वतंत्रता आंदोलन का एक नया दौर शुरू हुआ। अमरीका के समर्थन से दक्षिणी वियतनाम में बनी सरकार ने जेनेवा सम्मेलन के चुनाव कराने और वियतनाम के एकीकरण करने के फैसले मानने से इन्कार कर दिया। इसे ऐसी सरकार माना जाने लगा जो अमरीका के नियंत्रण में थी और कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में देश के एकीकरण की विरोधी थी। सातवें दशक के आरंभ में दक्षिणी वियतनाम में सरकार के खिलाफ विद्रोह उठ खड़े हुए। इसके बाद अमरीका ने वियतनाम में बहुत बड़े पैमाने पर सैनिक हस्तक्षेप किया। जन विद्रोह को कुचलने के लिए लाखों अमरीकी सैनिक वहाँ भेजे गए जो कई आधुनिकतम अस्त्रों से लैस थे। राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा के नेतृत्व में दक्षिणी वियतनाम की जनता ने छापामार युद्ध आरंभ कर दिया। उसे उत्तरी वियतनाम का समर्थन प्राप्त था। अमरीकी सेना ने युद्ध को फैलाकर उत्तरी वियतनाम को भी उसमें लपेट लिया। अमरीकी सेनाओं की भारी बम-वर्षा के कारण वियतनाम को अकथनीय हानि हुई। अमरीकी सेनाओं ने कीटाणु युद्ध के अस्त्रों का भी उपयोग किया। वियतनाम का एक बहुत बड़ा भाग तबाह हो गया और लाखों लोग मारे गए। अमरीकी सेनाओं को भी भारी नुकसान उठाना पड़ा।

वियतनाम के साथ युद्ध के सवाल पर अमरीका दुनिया में लगभग पूरी तरह अलग-थलग पड़ चुका था। अमरीका द्वारा छेड़े गए युद्ध का बीसियों सरकारों ने विरोध किया। इसके अलावा अमरीकी सरकार के खिलाफ और वियतनाम की जनता के साथ एकजुटता में विश्वव्यापी विरोध आंदोलन उठ खड़ा हुआ। ऐसे किसी आंदोलन का उदाहरण इससे पहले केवल चौथे दशक के स्पेन के गृहयुद्ध के दौरान देखने को मिला था, जब उस आंदोलन ने स्पेन के गणतंत्रवादियों का समर्थन किया था और स्पेन के फासीवादियों को सक्रिय सहायता देने वाले जर्मनी और इटली का विरोध किया था। खुद अमरीका में युद्ध का विरोध अभूतपूर्व पैमाने पर होने लगा। हज़ारों अमरीकियों ने युद्ध में शामिल होने से इन्कार कर दिया और अनेक अमरीकी सैनिक युद्ध छोड़कर भाग गए। वियतनाम युद्ध ने दुनिया की करोड़ों जनता में जैसी एकता स्थापित की वैसी एकता किसी और सवाल पर नहीं बनी थी। मगर अमरीकी सरकार युद्ध को जारी रखे हुए थी, हालाँकि यह स्पष्ट हो चुका था कि उसकी जीत नहीं होगी।

1975 के आरंभ में युद्ध में एक निर्णायक मोड़ आया। उत्तरी वियतनाम की और दक्षिणी वियतनाम की राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की सेनाएँ पूरे देश पर छा गईं और उन्होंने दक्षिणी वियतनामी सरकार की अमरीका समर्थित सेनाओं का सफाया कर दिया। जनवरी 1973 में अमरीकी सेनाएँ वियतनाम से हटना शुरू हो गई थीं। वियतनाम युद्ध के दौरान 58,000 अमरीकी सैनिक मारे गए थे। 30 अप्रैल 1975 तक सारी अमरीकी सेना हट गई और दक्षिणी वियतनाम की राजधानी सायगौन को मुक्त करा लिया गया। 1976 में उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम औपचारिक रूप से मिलकर एक हो गए। सायगौन शहर का नाम बदलकर वियतनामी जनता के महान नेता के नाम पर हो ची-मिन्ह नगर रख दिया गया, जिनका 1969 में निधन हो चुका था।

एकीकृत और स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में वियतनाम का उदय विश्व इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। एक छोटे से देश ने दुनिया की सबसे बड़ी ताकत की सेनाओं का मुकाबला करके पूर्ण स्वाधीनता पाई थी और अपना एकीकरण किया था। समाजवादी देशों द्वारा वियतनाम को दी गई सहायता, बहुत सारे एशियाई और अफ्रीकी देशों का राजनीतिक समर्थन तथा दुनिया के सभी भागों की जनता द्वारा व्यक्त एकजुटता, इन सबने भी वियतनाम की जनता की विजय में मदद पहुँचाई थी।

वियतनाम युद्ध कंबोडिया तक फैल चुका था। 1970 में राजकुमार नरोत्तम सिंहानुक की सरकार का तख़्ता पलट दिया गया तथा वहाँ एक कठपुतली सरकार स्थापित

कर दी गई। इस आधार पर अमरीकी और दक्षिण वियतनाम की फौजें इस लड़ाई को कंबोडिया में ले गईं कि वियतनामी फ़ौजों को कंबोडिया के ठिकानों से मदद मिल रही है। 1975 में जब संयुक्त राज्य अमरीका ने इस युद्ध से अपना हाथ खींच लिया, ख़्मेर रूज नामक दल ने कंबोडिया का नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया था। इस दल का नेतृत्व पोल पोत कर रहा था। पोल पोत की सरकार ने कंबोडिया में आतंक का शासन कायम किया और अपनी ही जनता के संहार की नीति प्रांरभ की। ख़्मेर रूज ने जिन लोगों की हत्या की उनकी अनुमानित संख्या दस लाख से तीस लाख है। वियतनाम की फौजों की मदद से 1979 में पोल पोत सरकार को उखाड़ फेंका गया। बहरहाल, कंबोडिया में लड़ाई चलती रही क्योंकि अब भी कंबोडिया के भीतर के कुछ इलाकों पर ख़्मेर रूज का नियंत्रण था। यह पार्टी थाईलैंड से लगी सीमा के पार से भी काम कर रही थी। इस बीच वियतनाम समर्थित कंबोडिया सरकार के विरोध में तीन गुट एक जुट होकर सामने आए। इसमें नरोत्तम सिंहानुक का दल और पोल पोत का ख़्मेर रूज भी शामिल थे।

अभी हाल में कंबोडिया में शांति स्थापित की गई है। लड़ने वाले तीनों गुटों को संयुक्त राष्ट्र संघ ने एकत्र किया तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वाधान में एक समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। कंबोडिया से वियतनाम की फौजें वापस चली गईं। 1993 में वहाँ चुनाव कराए गए और चुनाव के बाद वहाँ एक साझी सरकार बनी। ख़्मेर रूज सरकार से बाहर रही और देश के कुछ हिस्सों में इसकी फौजों ने अपना आक्रमण जारी रखा।

पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ़्रीका की घटनाएँ

सीरिया और लेबनान की स्वतंत्रता

द्वितीय विश्वयुद्ध के फौरन बाद एशिया के दूसरे भागों की तरह पश्चिमी एशिया में भी स्वाधीनता के लिए जनता उठ खड़ी हुई। फ़्रांसीसी शासन के ख़िलाफ़ सीरिया की जनता के आंदोलन के बारे में आप पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं। युद्ध के बाद फ्रांसीसियों ने सीरिया और लेबनान पर अपना शासन फिर से कायम करने की कोशिश की पर इन देशों की जनता के विरोध और विश्व-जनमत के कारण उन्हें हटना पड़ा। सीरिया और लेबनान दोनों ही 1946 के अंत में स्वतंत्र हो गए।

इस समय सभी अरब देशों में जनता का आंदोलन बढ़ रहा था और छठे दशक में वे स्वतंत्र राष्ट्रों के रूप में उभरे। कुछ देश जो नाममात्र को स्वतंत्र थे, वे अपनी स्वाधीनता की अभिव्यक्ति करने लगे। कुछ देशों में पुरानी पड़ चुकी राजनीतिक प्रणालियों को उखाड़ फेंकने के आंदोलन भी चले। इन बातों के कारण अरब देशों और साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच टकराव और कभी-कभी लंबे युद्ध भी हुए। इस काल में अरब राष्ट्रवाद और ताकतवर हुआ तथा अरब जनता और सरकारों ने मिल-जुलकर अपनी साझी समस्याओं को सुलझाने के प्रयास भी किए। अरब लीग की स्थापना हुई, जिसमें सभी अरब देश शामिल हैं।

मगर अनेक अरब देशों के स्वतंत्र होने से पहले पश्चिमी एशिया में एक ऐसी घटना हुई, जो तनाव का कारण बन गई और जिसके कारण आने वाले वर्षों में अनेक युद्ध हुए। यह घटना थी—इस्राइल नामक राज्य की स्थापना।

इस्राइल का राज्य

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, फ़िलिस्तीन में ब्रिटन को 1919 में शासनादेश (मैन्डेट) मिल गया था। फ़िलिस्तीन में अरब और यहूदी रहते थे। सियोनवादी (Zionist) आंदोलन नाम से एक आंदोलन उठ खड़ा हुआ, जिसका दावा था कि फ़िलिस्तीन सभी यहूदियों का देश है, वे चाहे कहीं भी रह रहे हों और इसलिए फ़िलिस्तीन यहूदियों को दिया जाना चाहिए। यूरोप में यहूदियों पर जो अत्याचार सदियों तक होते आए थे उनकी चरम सीमा नाज़ी जर्मनी द्वारा यहूदियों के विनाश की नीति थी। लाखों यहूदी जर्मनी में और जर्मनी द्वारा अधिकार में किए गए देशों में मारे गए। यूरोप में सदियों तक और ख़ासकर द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यहूदियों को जिन भयानक दु:खों का सामना करना पड़ा था, उनके कारण दुनिया भर में उन्हें सहानुभूति और समर्थन मिला था।

ब्रिटेन ने फ़िलिस्तीन से बाहर के कुछ यहूदियों को

छूट दे दी थी कि वे वहाँ आकर बस सकें। इस बीच सियोनवादी वहाँ एक अलग राज्य बनाए जाने का अभियान चला रहे थे। इससे फ़िलिस्तीन के स्वाधीनता-आंदोलन में पेचीदगी आ गई, क्योंकि वहाँ के निवासियों में बहुमत अरबों का था। 1947 में संयुक्त राष्ट्र ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसके अनुसार फ़िलिस्तीन को एक अरब राज्य और एक यहूदी राज्य में बाँटा जाना था। मगर 1948 में ब्रिटेन ने फ़िलिस्तीन से अपनी सेनाएँ हटा लीं और कुछ ही समय बाद इस्राइल नामक राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी गई। इस कारण अरब राज्यों और इस्राइल के बीच युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में अरब राष्ट्रों की हार हुई।

इस्राइल राज्य की स्थापना पश्चिमी एशिया में तनाव का कारण बन गई। अरब राज्यों ने उसे मान्यता देने से इन्कार कर दिया। इस्राइल सरकार की नीतियों ने इस कड़वाहट को और बढ़ाया। लगभग 9 लाख अरब अपना घर और देश छोड़कर भागने पर मजबूर हो गए और बेघर-बार हो गए। उन्हें अरब देशों के विभिन्न शरणार्थी शिविरों में शरण मिली। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों ने फ़िलिस्तीनी अरबों के साथ इस्राइल सरकार के व्यवहार की निंदा की। 1956 में इस्राइल ने ब्रिटेन और फ्रांस के साथ मिलकर मिस्र पर हमला किया। बाद में इस्राइल और अरब राज्यों के बीच और भी युद्ध हुए, जिनके परिणामस्वरूप इस्राइल ने अरब राज्यों के बड़े-बड़े इलाकों पर कब्ज़ा कर लिया। गाज़ा पट्टी, पश्चिमी किनारा और गोलान की पहाड़ियाँ इसमें शामिल हैं। इस अधिकृत भू-भाग में दस लाख से ज़्यादा फ़िलिस्तीनी रहते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के संकल्पों के बावजूद इस्राइलों ने अरब भू-भाग खाली करने से मना कर दिया और फ़िलिस्तीनी अरबों को उनके अधिकार भी बहाल नहीं किए गए। इनमें से कई तो अलग-अलग अरब राज्यों में शरणार्थी के रूप में रहते हैं। फ़िलिस्तीनी राज्य की स्थापना के संघर्ष के लिए 1964 में फ़िलिस्तीनी मुक्ति संगठन (पी. एल. ओ.) का गठन किया गया। इस संगठन को गुटनिरपेक्ष आंदोलन में सदस्य राज्य का दर्जा हासिल है। अभी हाल में इस्राइली सरकार और फ़िलिस्तीनी मुक्ति संगठन के मध्य एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए हैं। इस समझौते के तहत फ़िलिस्तीनी मुक्ति संगठन ने इस्राइल राज्य को मान्यता प्रदान की और इसके बदले इस समय जो इलाका इस्राइल के नियंत्रण में है, उसके कुछ भागों में फ़िलिस्तीनियों को स्वायत्तता देने पर इस्राइल सरकार सहमत हुई।

मिस्र में क्रांति

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मिस्र ब्रिटेन के 'शासनादेश' में आ गया। मगर 1922 में राष्ट्रवादी आंदोलन के दबाव में मिस्र को स्वतंत्र घोषित करना पड़ा, हालाँकि उसके बाद भी ब्रिटिश सेनाएँ वहाँ बनी रहीं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटिश सेनाओं को हटाने की माँग जोर पकड़ने लगी। मिस्रवासियों और ब्रिटिश सेनाओं के बीच गंभीर टकराव हुए जिनमें हज़ारों मिस्रवासी मारे गए। यह असंतोष मिस्र के राजा के ख़िलाफ़ भी था जिसे अंग्रेज़ों ने गद्दी पर बैठाया था। अंग्रेज़ों और राजा के ख़िलाफ़ इस असंतोष के कारण वहाँ 1952 में एक क्रांति हुई। लेफ्टिनेंट-कर्नल गमाल अब्दुल नासिर और जनरल मुहम्मद नजीब के नेतृत्व में मिस्र की सेना ने राजतंत्र का तख्ता पलटकर मिस्र को एक गणराज्य घोषित कर दिया। नई सरकार ने मिस्र से ब्रिटिश सेनाएँ हटाए जाने की माँग की और वे जून 1956 में हटा ली गईं।

कर्नल नासिर के नेतृत्व में मिस्र की सरकार ने देश का आर्थिक पुनर्निर्माण आरंभ किया। मिस्र ने जब अमरीकी गुट में शामिल होने से इन्कार कर दिया, तब अमरीका ने मिस्र को हथियारों की बिक्री पर रोक लगा दी। मगर मिस्र

मिस्र में सफल क्रांति का नेतृत्व करने के बाद कर्नल नासिर और जनरल नजीब

को सोवियत संघ से सैनिक और आर्थिक सहायता मिलती रही। 1956 में मिस्र ने स्वेज़ नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा की जो तब ब्रिटेन और फ्रांस के नियंत्रण में थी। तीन महीने बाद इस्राइल, ब्रिटेन और फ्रांस ने एक योजना बनाकर मिस्र पर हमला कर दिया। मिस्र पर हुए इस हमले का दुनिया भर में विरोध हुआ। ब्रिटेन में भी ब्रिटिश सरकार के ख़िलाफ़ भारी विरोध-प्रदर्शन हुए। सोवियत संघ ने हमलावर देशों को चेतावनी दी कि अगर वे अपनी फौजें मिस्र से नहीं हटाते तो वह उन्हें कुचलने के लिए कड़ी फौजी कार्यवाही करेगा। अमरीका समेत दुनिया के लगभग हर देश ने संयुक्त राष्ट्र संघ में ब्रिटेन, फ्रांस और इस्राइल की निंदा की। हमले की इस विश्वव्यापी निंदा के बाद मजबूर होकर ब्रिटेन और फ्रांस को मिस्र से फौजें हटानी पड़ीं। हमले के इस ख़ात्मे से आमतौर पर एशियाई और अफ्रीकी देशों और खासकर अरब देशों की एकता और मज़बूत हुई। इससे कुछ ही वर्ष पहले स्वाधीनता पाने वाले देशों की बढ़ती हुई ताक़त का भी अंदाज़ हुआ। स्वेज़-युद्ध से सोवियत संघ की प्रतिष्ठा भी बढ़ी और उसे उन देशों का मित्र समझा जाने लगा जो अपनी स्वाधीनता को सुरक्षित रखने के प्रयास कर रहे थे।

लीबिया की स्वतंत्रता

आप पढ़ चुके हैं कि 1911 में लीबिया में इटली का शासन स्थापित हुआ था। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जर्मन और ब्रिटिश सेनाओं के बीच कुछ भयानक युद्ध लीबिया की धरती पर भी हुए। युद्ध के समाप्त होने पर ब्रिटेन और फ्रांस ने लीबिया पर कब्ज़ा कर लिया। 1951 में लीबिया स्वतंत्र हुआ और वहाँ राजतंत्रीय सरकार स्थापित हुई। 1960 के बाद लीबिया दुनिया के सबसे अधिक तेल-उत्पादन करने वाले देशों में से एक हो गया। इससे लीबियाई समाज के कुछ वर्ग बहुत धनी हो गए हालाँकि अधिकतर जनता अत्यंत निर्धन ही बनी रही। वहाँ का शासक अपने शासन के ख़िलाफ़ किसी भी विरोध को उभरने नहीं देता था। अमरीका ने लीबियाई क्षेत्र में अपना एक बहुत ही शक्तिशाली हवाई अड्डा बनाया। 1969 में कुछ सैनिक अधिकारियों ने सत्ता पर कब्ज़ा कर लिया। शीघ्र ही राजतंत्र समाप्त कर दिया गया। नई सरकार ने घोषणा की कि वह अरब जनता की एकता और एकजुटता को प्राथमिकता देगी।

अल्जीरिया का स्वाधीनता-संघर्ष

छठे दशक में उत्तरी अफ्रीका में अनेक स्वतंत्र राष्ट्रों का उदय हुआ। मगर स्वाधीनता पाने से पहले उन साम्राज्यवादी देशों के ख़िलाफ़ वर्षों तक संघर्ष भी होते रहे जो अपने औपनिवेशिक अधिकार-क्षेत्रों को बनाए रखना चाहते थे। हिंदचीन की तरह ट्यूनीशिया, मोरक्को और अल्जीरिया में भी फ्रांसीसी शासन फिर से स्थापित हुआ। मगर 1956 में ट्यूनीशिया और मोरक्को ने स्वाधीनता पा ली।

उत्तरी अफ्रीका के जिस देश को स्वाधीनता के लिए सबसे लंबा और सबसे कड़ा संघर्ष करना पड़ा, वह अल्जीरिया था। उसे फ्रांस ने बहुत पहले 1830 में ही जीत लिया था, हालाँकि वहाँ अपना शासन पूरी तरह स्थापित करने में फ्रांस को 40 वर्ष और लग गए थे। हिंदचीन की तरह अल्जीरिया में भी फ्रांसीसी शासन-विरोधी संघर्ष का एक लंबा इतिहास रहा है। 1954 में अल्जीरिया के राष्ट्रवादी संगठन, राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा ने फ्रांसीसी शासन के ख़िलाफ़ सशस्त्र संघर्ष चलाने के लिए जनता का आह्वान किया। हथियारबंद लड़ाइयाँ हुईं जिनमें दोनों ओर से हज़ारों लोग मारे गए। 1958 तक अल्जीरिया के राष्ट्रवादियों ने अपनी एक बड़ी सेना बना ली थी और अल्जीरिया गणराज्य की सरकार की स्थापना की घोषणा कर दी थी। अल्जीरिया के युद्ध के, फ्रांस के अंदर भी गंभीर परिणाम हुए। इससे फ्रांस में राजनीतिक अस्थिरता आ गई। फ्रांस की कम्युनिस्ट पार्टी और अनेक दूसरे फ्रांसीसी नेता अल्जीरिया की स्वाधीनता के समर्थक थे। मगर फ्रांसीसी सेना के कई भागों पर अल्जीरिया में बसे फ्रांसीसियों का प्रभाव था और ये फ्रांसीसी स्वाधीनता के प्रश्न पर अल्जीरियाई नेताओं से कोई भी बातचीत चलाने के विरोधी थे। 1958 में जनरल दगाल फ्रांस के राष्ट्रपति बने। उन्होंने अल्जीरिया की जनता को आत्मनिर्णय का अधिकार देने की बात मान ली और राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के नेताओं के साथ बातचीत आरंभ की। इस नीति का अल्जीरिया में तैनात फ्रांसीसी सेना के कुछ हिस्सों ने विरोध किया। उन्होंने दगाल के ख़िलाफ़ विद्रोह कर दिया और उनकी हत्या की भी कोशिश की मगर विद्रोह को कुचल दिया गया। 1 जुलाई, 1962 को अल्जीरिया में जनमत संग्रह

अल्जीरियाई छापामारों को पूछताछ के लिए ले जाते हुए फ्रांसीसी सैनिक, 1955

कराया गया। वहाँ की जनता ने एक राय से पूर्ण स्वाधीनता के पक्ष में मत दिया। 4 जुलाई, 1962 को अल्जीरिया स्वतंत्र गणराज्य बन गया। अल्जीरिया को यह स्वाधीनता जीतने के लिए 1,40,000 अल्जीरियाई जनता ने अपना जीवन बलिदान दिया।

अफ्रीकी राष्ट्रों द्वारा स्वाधीनता की प्राप्ति

आप अध्याय 1 में पढ़ चुके हैं कि इथियोपिया और लाइबेरिया को छोड़कर लगभग पूरे अफ्रीका पर यूरोप के साम्राज्यवादी देश उन्नीसवीं सदी के अंत तक कब्ज़ा कर चुके थे। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स्थिति में कुल इतना परिवर्तन आया था कि अफ्रीका में जर्मनी के उपनिवेश विजयी मित्र-राष्ट्रों को दे दिए गए थे। मगर एशिया की तरह अफ्रीका में भी प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के वर्षों में राष्ट्रवादी आंदोलनों का उदय हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अफ्रीका में औपनिवेशक शासन छिन्न-भिन्न होने लगा। उत्तरी अफ्रीका के देशों की स्वतंत्रता का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। छठे दशक के मध्य से दक्षिणी अफ्रीका के देश भी आज़ाद होने लगे। कुछ ही वर्षों के अंदर दक्षिण अफ्रीका और दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका (नामीबिया) को छोड़कर अफ्रीका का लगभग हर देश आज़ाद हो गया। अब नामीबिया भी स्वतंत्र हो चुका है।

दुनिया के सभी भागों की तरह अफ्रीका में भी स्वतंत्रता-आंदोलनों के उभरने का कारण राष्ट्रवाद का विकास और औपनिवेशिक देशों के शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ़ बढ़ता हुआ विरोध था। उस समय की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण ये आंदोलन और भी मज़बूत हुए। द्वितीय विश्वयुद्ध ने आमतौर पर साम्राज्यवाद को कमजोर कर दिया था। इसने अफ्रीका में शासन कर रही कुछ प्रमुख औपनिवेशिक शक्तियों की अजेयता को तोड़ा क्योंकि इस

अफ्रीका के स्वतन्त्र राष्ट्र
मोरक्को
2 मार्च 1956
माली
22 सितम्बर 1969
नाइजर
3 अगस्त 1960
सेनेगल
20 अगस्त 1960
सूडान
1 जनवरी 1956
जिबूती
27 जून 1977
कैमरून
1 जनवरी 1960
सैंट्रल अफ्रिकन रिपब्लिक
भूमध्य रेखीय गिनी
12 अक्टूबर 1968
कीनिया
12 दिसम्बर 1963
अंगोला
11 नवम्बर 1975
ज़ाम्बिया
24 अक्टूबर 1964
जिम्बाब्वे
18 अप्रैल 1980
बोत्सवाना
30 सितम्बर 1966
लैसोथो
4 अक्टूबर 1966
मेडागास्कर
26 जून 1960
कोमोरोस
6 जुलाई 1975
केप वर्दे
5 जुलाई 1975
मॉरीशस
12 मार्च 1968
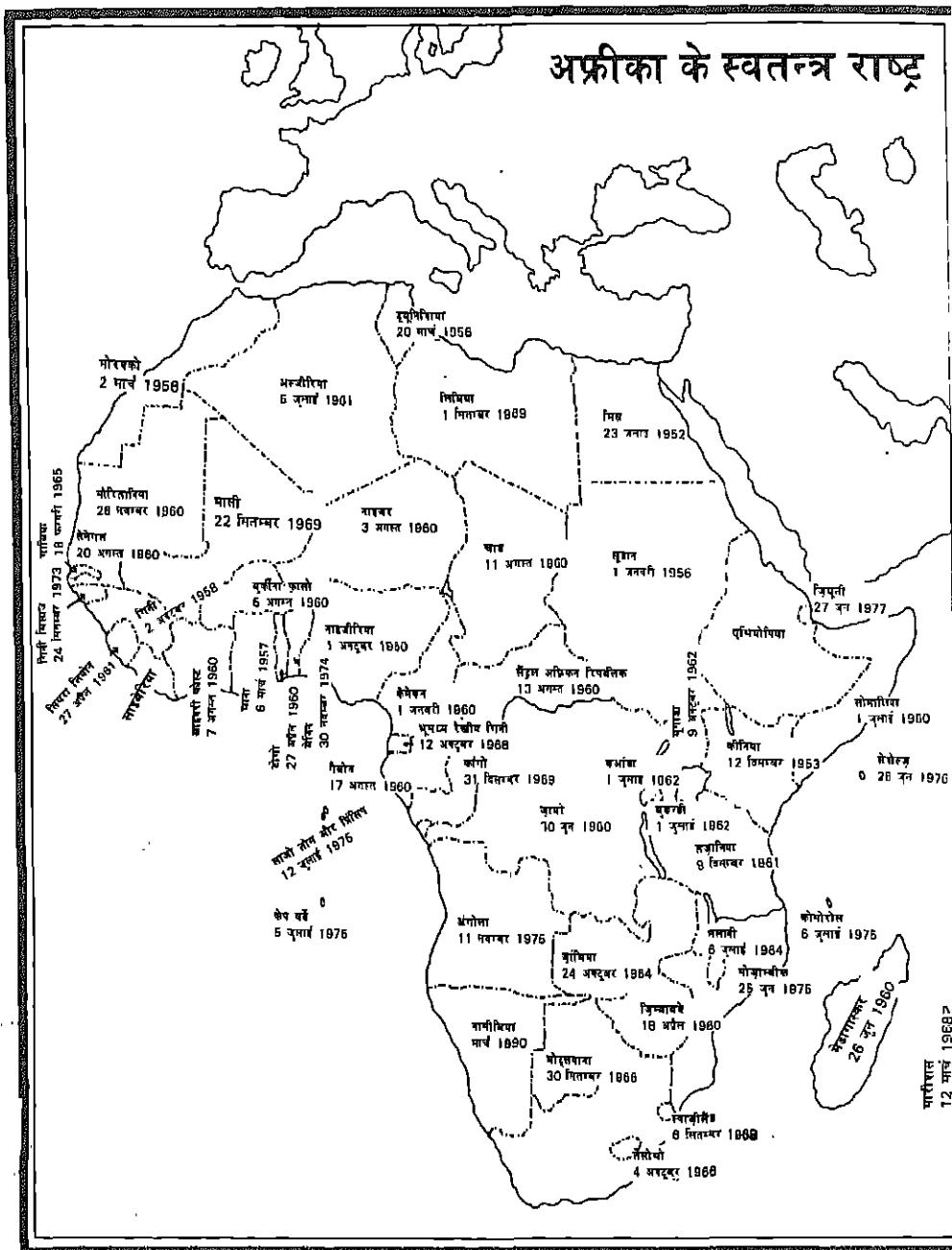
अल्जीरिया के राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (नेशनल लिबरेशन फ्रंट) के सिपाही, 1962

युद्ध में फ्रांस और बेल्जियम जैसे यूरोपीय देशों को हार का मुँह देखना पड़ा था। अफ्रीका की स्वाधीनता धीरे-धीरे विश्व का एक महत्वपूर्ण प्रश्न बन गई।

घाना दक्षिणी अफ्रीका में स्वतंत्रता पाने वाला पहला देश था। पश्चिमी अफ्रीका में घाना एक शक्तिशाली राज्य था जो आठवीं से बारहवीं सदी तक अस्तित्व में रहा। इस क्षेत्र में अंग्रेज़ों ने एक उपनिवेश जीता था और उसे गोल्ड कोस्ट का नाम दिया था। गोल्ड कोस्ट की जनता के प्रमुखतम नेता क्वामें न्क्रूमा थे जिन्होंने 1949 में कन्वेंशन पीपुल्स पार्टी की स्थापना की थी। गोल्ड कोस्ट में एक मज़बूत ट्रेड यूनियन आंदोलन भी उठ खड़ा हुआ। स्वतंत्रता की माँग को लेकर कन्वेंशन पीपुल्स पार्टी और ट्रेड यूनियनों ने आपस में सहयोग कर लिया। मगर अधिकांश नेता गिरफ़्तार कर लिए गए और उनकी स्वतंत्रता की माँग को दबाने के प्रयास किए गए। 1950 के बाद ब्रिटिश सरकार ने कुछ सांविधानिक सुधार लागू करने आरंभ किए। चुनावों में पीपुल्स पार्टी की भारी जीत हुई और उसके दबाव में ब्रिटिश सरकार ने गोल्ड कोस्ट को स्वतंत्रता देने की बात मान ली। इस प्रकार 6 मार्च, 1957 को जिस नए और स्वतंत्र राज्य का उदय हुआ, उसने प्राचीन पश्चिम अफ्रीकी राज्य के नाम पर अपना नाम 'घाना' रखा। टोगोलैंड का जो भाग ब्रिटिश कब्ज़े में था वह भी घाना में शामिल हो गया।

इसके बाद पश्चिमी अफ्रीका में आज़ादी पाने वाला दूसरा देश था–गिनी, जो फ्रांस का उपनिवेश था। 1958 में जब फ्रांस अल्जीरिया के युद्ध में फँसा था, उसने अपने उन उपनिवेशों में जनमत-संग्रह कराया, जिन्हें मिलाकर फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका और फ्रांसीसी भूमध्य रेखीय अफ्रीका बनाए गए थे। गिनी की जनता ने पूर्ण स्वतंत्रता के पक्ष में मतदान किया। 2 अक्तूबर, 1958 को गिनी को गणराज्य घोषित कर दिया गया।

घाना और गिनी की आज़ादी से अफ्रीका के दूसरे देशों के स्वाधीनता आंदोलनों को और बल मिला तथा वहाँ स्वतंत्रता प्राप्ति की प्रक्रिया तेज़ हुई। अफ्रीका की स्वतंत्रता

क्वामे न्क्रूमा

की प्रक्रिया को तेज़ करना भारत की विदेश नीति का, उसकी स्वतंत्रता के समय से ही एक प्रमुख लक्ष्य रहा था। भारत का स्वाधीनता संघर्ष अफ़्रीकी राष्ट्रवादियों को प्रेरणा देता था। स्वाधीन होने के बाद भारत ने अफ़्रीकी देशों के स्वाधीनता-आंदोलनों को मज़बूत बनाने में एक प्रमुख भूमिका निभाई।

वर्ष 1960 को आमतौर पर अफ़्रीका का वर्ष कहा जाता है। उस वर्ष अफ़्रीका के 17 देश आज़ाद हुए। इनमें से कुछ थे–फ्रांसीसी पश्चिम अफ्रीका, फ्रांसीसी भूमध्य रेखीय अफ़्रीका, नाइजीरिया और बेल्जियन कांगो, जिसे अब ज़ायरे कहते हैं।

1961 और 1964 के बीच पूर्वी और मध्य अफ़्रीका के अनेक देश आज़ाद हुए। ये थे–केनिया, यूगांडा, टांगानिका, ज़ंजीबार, न्यासालैंड, उत्तरी रोडेशिया, रूआंडा और बुरूंडी। सियरा-लियोन, गांबिया, लेसोथो (भूतपूर्व बासुतोलैंड) और बोट्स्वाना (भूतपूर्व बेचुआनालैंड) भी स्वतंत्र हो गए। केनिया में स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्व केनिया अफ़्रीकन यूनियन के नेता जोमो केनियाटा कर रहे थे। 1952 में एक किसान विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इसे माउ-माउ विद्रोह कहा जाता है, जिसका लक्ष्य ब्रिटिश उपनिवेशवादी अधिकारियों द्वारा ज़मीनों पर किए जा रहे कब्ज़ों का विरोध करना था। विद्रोह को कुचलने के लिए 15,000

माउ-माउ कैदियों को यंत्रणा शिविरों में ले जाया जा रहा है

जोमो केनियाटा

केनियावासी मार डाले गए और लगभग 80,000 यंत्रणा शिविरों में डाल दिए गए। माउ-माउ विद्रोह के समर्थन के आरोप में जोमो केनियाटा को गिरफ्तार कर लिया गया। स्वतंत्रता आंदोलन को कुचलने के असफल होने पर ब्रिटेन ने हथियार डाल दिए और केनिया 1963 में स्वतंत्र हो गया।

अफ़्रीका के अनेक नवस्वतंत्र देशों को स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ा। सीधे-सीधे हस्तक्षेप करके और फूट के बीज डालकर साम्राज्यवादी देशों ने अपने पुराने उपनिवेशों पर नियंत्रण बनाए रखने की कोशिशें कीं। उदाहरण के लिए, बेल्जियम ने कुछ देशों की सहायता से और भाड़े के सैनिकों का उपयोग करके कांगो से कटांगा नामक एक समृद्ध प्रांत को अलग करा दिया। कांगो के प्रधानमंत्री पैट्रिस लुमुंबा की अपील पर विदेशी फौजों और भाड़े के सैनिकों को वहाँ से हटाने के लिए संयुक्त राष्ट्र की सेनाएँ भेजी गईं। मगर पैट्रिस लुमुंबा कत्ल कर दिए गए और कांगो में अनेक वर्षों तक अव्यवस्था बनी रही।

अंगोला, मोज़ांबिक और गिनी-बिसाऊ तथा केप-वर्दे द्वीप के पुर्तगाली उपनिवेशों और दक्षिण अफ़्रीका, दक्षिण-पश्चिम अफ़्रीका एवं रोडेशिया को छोड़कर लगभग पूरा अफ़्रीका सातवें दशक के ख़त्म होने से पहले आज़ाद हो चुका था। पुर्तगाली उपनिवेशों में ताकतवर स्वाधीनता आंदोलन उठ खड़े हुए। उन्होंने अपनी मुक्ति सेनाएँ बनाईं और उनके स्वाधीनता संघर्ष को अनेक देशों का समर्थन मिला। जिस पुर्तगाली सेना के एक बड़े भाग का उपयोग उपनिवेशों के स्वाधीनता संघर्षों को कुचलने के लिए किया जाता था, उसी सेना ने अप्रैल 1974 में जनता के सहयोग से पुर्तगाल की 50 वर्ष पुरानी तानाशाही का तख़्ता पलट दिया। सेना में तथा पुर्तगाल की नई सरकार में कम्युनिस्ट, समाजवादी और दूसरे क्रांतिकारी तत्व अफ़्रीका में पुर्तगाली शासन को जारी रखने के विरोधी थे। उन्होंने पुर्तगाली उपनिवेशों के स्वतंत्रता-संघर्षों से समझौते की बात चलाई और 1975 तक पुर्तगाल के सभी अफ़्रीकी उपनिवेश स्वतंत्र हो गए। अप्रैल 1980 में ज़िंबाब्वे (भूतपूर्व दक्षिण रोडेशिया) को स्वाधीनता मिली।

अफ़्रीका में स्वतंत्र होने वाला आख़िरी देश नामीबिया है। पहले इसका नाम दक्षिण-पश्चिम अफ़्रीका था। प्रथम विश्व युद्ध के पहले यह जर्मन उपनिवेश था। उस लड़ाई में जर्मनी की पराजय के बाद एक अधिकार पत्र के तहत इसे दक्षिण अफ़्रीका के हवाले कर दिया गया। दक्षिण अफ़्रीका दक्षिण-पश्चिम अफ़्रीका (अब नामीबिया) को अपना उपनिवेश समझता था और संयुक्त राष्ट्र संघ के संकल्पों के बाद भी वहाँ से निकलने से इसने मना किया था। यहाँ पर स्वतंत्रता आंदोलन की अगुवाई "साउथ-वेस्ट-अफ़्रीका पीपुल्स ऑरगेनाइज़ेशन" (स्वापो) नामक संगठन ने किया। इसकी स्थापना 1960 में हुई थी। देश को स्वतंत्र करने के लिए जब इसकी गुरिल्ला फौज ने युद्ध शुरू किया तब स्वतंत्रता आंदोलन में तेज़ी आई। इसको गुटनिरपेक्ष आंदोलन का सदस्य बनाया गया। नामीबिया के स्वतंत्रता आंदोलन को सफलता की मंज़िल तक पहुंचाने में गुटनिरपेक्ष आंदोलन, अफ़्रीकी सरकारों तथा संयुक्त राष्ट्र संघ ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। देश की आज़ादी की संयुक्त राष्ट्र की एक योजना से दक्षिण अफ़्रीका जब सहमत हो गया तब 1989 में नामीबिया की लड़ाई ख़त्म हुई। नवंबर
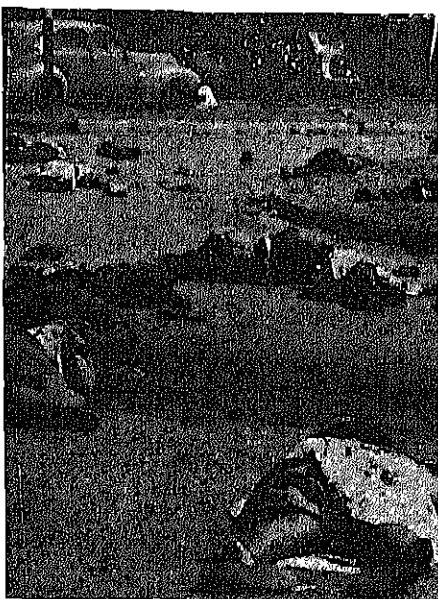
दक्षिण अफ्रीका के शार्पविल में 22 मार्च, 1960 को एपार्थीड (पृथकतावादी) कानून के विरुद्ध प्रदर्शन करने वालों का संहार किया गया

1989 में नामीबिया में चुनाव हुए। इस चुनाव में स्वापो को अधिकांश जगहों पर सफलता हासिल हुई और 21 मार्च, 1990 को नामीबिया स्वतंत्र हो गया।

दक्षिण अफ्रीका (जो 1910 से दक्षिण अफ्रीका संघ और 1961 से दक्षिण अफ्रीका गणतंत्र था) इस अर्थ में स्वतंत्र देश रहा है कि इस पर किसी दूसरे देश का शासन नहीं था। बहरहाल, दक्षिण अफ्रीका की सरकार बीसवीं सदी की विश्व की सर्वाधिक दमनात्मक सरकारों में थी। इस सरकार पर अल्पसंख्यक गोरों का एकाधिकार था जिनका रंगभेदी व्यवहार घृणित सीमा को लांघ चुका था। अफ्रीका में पृथकतावादी (एपार्थीड) व्यवस्था कायम की गई थी। इस व्यवस्था के तहत लोगों को उनकी नस्ल (रंग) के आधार पर वर्गीकृत किया गया था। इसमें हर वर्ग के रहने के लिए पृथक क्षेत्र निर्धारित किया गया था। गोरों, कालों तथा अन्य नस्ल के लोगों के लिए अलग स्कूल और विश्वविद्यालय थे, अलग सिनेमा घर थे, पृथक बाजर और विपणन केंद्र थे और रेलगाड़ियों में यात्रा के लिए अलग डिब्बे थे। नस्ल के आधार पर ही खेल की टीमें बनती थीं। दो अलग-अलग नस्लों में शादी-ब्याह करना दण्डनीय अपराध माना जाता था। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने पर प्रतिबंध लगे हुए थे। देश की अच्छी ज़मीनों पर गोरों का नियंत्रण था और इन्हीं के हाथ में सारी आर्थिक और राजनीतिक शक्ति थी। *ग़ैर-गोरे लोगों का देश के शासन के संचालन में कोई* दख़ल नहीं था उनको मतदान का अधिकार भी नहीं था। लगभग 80% जनता के ऊपर गोरे अल्पसंख्यकों के शासन को बनाए रखने के लिए पृथकतावादी व्यवस्था का इस्तेमाल किया जाता था। इन बहुसंख्यक आबादी वाले लोगों में अफ्रीका के काले लोग, अन्य अश्वेत लोग तथा भारतीय मूल के लोग शामिल थे। नस्लों के अलगाव के नाम पर यह व्यवस्था जनसंख्या के बहुसंख्यक लोगों को मानवाधिकारों से वंचित किए हुए थी। यह बात याद होगी कि भारत में स्वतंत्रता आंदोलन के नेता बनने के काफ़ी पहले दक्षिण अफ्रीका में नस्ली भेदभाव के ख़िलाफ़ महात्मा गाँधी ने संघर्ष शुरू किया था।

अल्पमत गोरों के शासन को समाप्त करने तथा ग़ैर-नस्ली दक्षिण अफ्रीकी लोकतंत्रीय सरकार की स्थापना के लिए आंदोलन का नेतृत्व करने वाला संगठन अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस था। यही वहाँ की जनता का प्रमुख संगठन था। इसकी स्थापना 1910 में हुई थी। 1950 के दशक में पृथकतावादी घृणित व्यवस्था के ख़िलाफ़ संघर्ष और गहराया। शासन को बनाए रखने के लिए सरकार ने दमन और आतंक का सहारा लिया। शांतिपूर्ण ढंग से प्रदर्शन कर रहे लोगों का कत्लेआम हुआ। 1960 में अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस पर प्रतिबंध लगाया गया तथा इसके अधिकांश नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया। इसके बाद इस नस्लवादी शासन से लड़ने के लिए अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस ने अपनी सेना संगठित की।

शेष दुनिया से दक्षिण अफ्रीका को क्रमश: अलग-थलग कर दिया गया। पृथकतावादी शासन व्यवस्था को ध्वस्त करने वाले संघर्ष को समर्थन देने में भारत अग्रिम पंक्ति में शुरू से ही रहा है। यह पहला दुनिया का देश था जिसने

दक्षिण अफ्रीका के जोहान्सबर्ग नगर में प्रदर्शनकारियों पर आक्रमण करती हुई पुलिस, 1972

दक्षिण अफ़्रीका से अपने संबंध तोड़ लिए थे तथा दक्षिण अफ्रीकी जनता को अपना पूरा समर्थन दिया था। इसके बाद कई अन्य देशों ने भी ऐसा ही किया था। दक्षिण अफ्रीका की नीति की भर्त्सना संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी की। जिन थोड़े से पश्चिमी देशों के दक्षिण अफ्रीका के साथ सैनिक और आर्थिक संबंध बरकरार थे, उन्होंने भी 1980 के दशक में उसके खिलाफ़ प्रतिबन्ध लगा दिए। 1980 के दशक की समाप्ति के समय पूरे विश्व स्तर पर दक्षिण अफ्रीका को शेष दुनिया से अलग-थलग कर दिया गया था।

1980 के दशक की समाप्ति के बाद से पृथकतावादी व्यवस्था की समाप्ति की प्रक्रिया शुरू हो गई। अफ़्रीकी नेशनल कांग्रेस पर से प्रतिबंध हटा लिया गया और उसके नेताओं को रिहा कर दिया गया। रिहा किए गए नेताओं में नेल्सन मंडेला भी थे जो 26 सालों से कैद थे और पृथकतावादी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष के प्रतीक बन चुके थे। अनेक पृथकतावादी कानून समाप्त कर दिए गए और नए संविधान की रचना के लिए अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस तथा दक्षिण अफ्रीका की सरकार के बीच बातचीत शुरू हुई जिसमें सभी दक्षिण अफ़्रीकी लोगों को मतदान का अधिकार प्राप्त होना था। अप्रैल 1994 में वहाँ आम चुनाव हुए। इन चुनावों में पहली बार देश के हर नागरिक को मत का अधिकार मिला। मई 1994 में वहां पहली लोकतांत्रिक सरकार का गठन हुआ और नेल्सन मंडेला दक्षिण अफ़्रीका के राष्ट्रपति बने।

इस तरह पिछले तीस वर्षों में अफ्रीका का लगभग हर भाग स्वतंत्र हो चुका है। अनेक अफ्रीकी देशों ने अपने नाम बदल लिए हैं। औपनिवेशिक शक्तियों ने उन्हें ऐसे नाम दिए थे, जिनका उनके पुराने इतिहास और संस्कृति से कुछ लेना-देना न था। औपनिवेशिक दुस्साहसवादियों के नाम पर कुछ देशों और नगरों के नाम रखे गए थे जैसे रोडेशिया, लियोपोल्डविले, स्टैनलेविले, आदि। अफ्रीका की जनता औपनिवेशिक शासन के कारण हुई अपनी क्षति को पूरा करने की कोशिश कर रही है। देशों और नगरों के नाम बदलकर उन्हें पुराने नाम देना भी उनके स्वाधीनता और राष्ट्रीय पहचान के दावे का एक अंग है। साझी ज़िम्मेदारियों को पूरा करने तथा साझे उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एकता की आवश्यकता है और इसलिए समूची अफ्रीकी जनता

की एकता स्थापित हुई है। अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना तथा अभी भी स्वाधीनता के लिए लड़ रहे अफ्रीकी जनता के मुक्ति-आंदोलनों की सहायता करना इन उद्देश्यों में शामिल है। 1963 में **अफ्रीकी एकता संगठन** (ओ.ए.यू.) की स्थापना इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कदम थी।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन

स्वतंत्र राष्ट्रों के रूप में अफ्रीकी और एशियाई देशों के उदय से विश्व-इतिहास में एक नए चरण का आरंभ होता है। ये देश जो सदियों तक दबाकर रखे गए थे, अब अपनी शक्ति को पहचानने लगे हैं और विश्व में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे हैं। ऐसे ही विकासक्रम दक्षिणी अमरीका और कैरीबियन में भी हुए हैं। दुनिया के इस भाग में वे देश जो कभी यूरोपीय औपनिवेशिक शासन के अधीन थे, स्वतंत्र हो चुके हैं। संयुक्त राज्य अमरीका ने इन देशों के आंतरिक मामलों में अनेकों बार हस्तक्षेप किया है, खासकर तब, जब किसी देश में कोई उग्र सरकार कायम हुई और उसने अपनी राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता को वास्तविक बनाने का प्रयास किया। इस क्षेत्र में हुई एक महत्वपूर्ण घटना क्यूबा की क्रांति थी जिसने 31 दिसंबर, 1958 को बतिस्ता की भ्रष्ट तानाशाह सरकार का तख़्ता पलट दिया। 1961 में अमरीका ने भाड़े के सैनिक क्यूबा भेजे मगर यह आक्रमण टाँय-टाँय- फिस्स बोल गया और तीन दिनों में ही इसे कुचल दिया गया।

अपनी साझी समस्याओं और साझी आकांक्षाओं के कारण इन देशों की जनता ने उन्हें जोड़नेवाला कोई संगठन न होने के बावजूद साथ मिलकर काम करना आरंभ किया। दुनिया के मामलों पर और खासकर अभी भी विदेशी दासता में रह रहे राष्ट्रों की स्वाधीनता के प्रश्न पर उनके बीच कुछ सामूहिक समझ विकसित होने लगी। 1955 में एक ऐसी घटना हुई, जिसने एशिया और अफ्रीका के देशों की एकता को और भी मज़बूत किया। यह घटना थी — अफ्रो-एशियाई सम्मेलन जो इंडोनेशिया में बांदुंग नामक स्थान पर आयोजित हुआ। इस सम्मेलन में 23 एशियाई और 6 अफ्रीकी देशों ने भाग लिया। सम्मेलन की कार्रवाई में तीन एशियाई देशों — भारत, चीन और इंडोनेशिया — की महत्वपूर्ण भूमिका रही। अफ्रो-एशियाई देशों की यह बढ़ती हुई एकता संयुक्त राष्ट्र संघ में भी देखी गई जहाँ अनेक प्रश्नों पर इन देशों ने एक समूह की तरह कार्य किया।

विश्व में गुटनिरपेक्षता का उदय अफ्रीकी और एशियाई देशों की स्वतंत्रता के बाद होने वाली एक और महत्वपूर्ण घटना थी। आप शीत युद्ध, सैनिक गुटों की स्थापना और दुनिया के अनेक भागों में बढ़ते तनावों के बारे में पढ़ चुके हैं। एशिया और अफ्रीका के अनेक नवस्वाधीन राष्ट्रों ने शीत युद्ध में शामिल होने से इन्कार कर दिया। इन्होंने सैनिक गुटों की स्थापना को शांति और अपनी स्वाधीनता के लिए एक गंभीर ख़तरा माना। इन देशों के सामने सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण की एक भारी ज़िम्मेदारी है और इसे युद्धों और तनावों से मुक्त वातावरण में ही पूरा किया जा सकता है। एशिया के कुछेक देश सैनिक गुटों में शामिल हुए और अपनी धरती पर उन्होंने सैनिक अड्डे बनाए जाने की छूट दे दी। सैनिक गुटों के विस्तार और विदेशी अड्डों की स्थापना को अधिकांश एशियाई देश अपनी स्वाधीनता के लिए ख़तरा और तनाव का कारण मानते थे। इसलिए उन्होंने इन गुटों का विरोध किया। एशिया और अफ्रीका में साम्राज्यवाद के बने रहने के कारण उनके लिए तथा शांति के लिए पैदा होने वाले ख़तरों के प्रति भी वे सचेत थे। इसलिए एशिया और अफ्रीका के गुटनिरपेक्ष राष्ट्र उपनिवेशवाद की समाप्ति के संघर्ष में आगे-आगे रहे। गुटनिरपेक्षता मूलतः एक ऐसी नीति है जिसका उद्देश्य स्वाधीनता को ठोस बनाना, उपनिवेशवाद को ख़त्म करना और विश्वशांति को बढ़ाना है। यह केवल सैनिक गुटों में न शामिल होने की नीति ही नहीं है, बल्कि एक बेहतर दुनिया के निर्माण की नीति भी है।

जवाहरलाल नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल में भारत ने गुटनिरपेक्षता को विश्व की एक प्रमुख शक्ति बनाने में अग्रणीय भूमिका निभाई है। गुटनिरपेक्ष आंदोलन में प्रमुख भूमिकाएँ निभाने वाले दूसरे नेता रहे हैं — इंडोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्णो, मिस्र के राष्ट्रपति नासिर और यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का पहला शिखर सम्मेलन यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेद में सितंबर 1961 में हुआ। इसमें 25 देशों के

राज्याध्यक्षों ने भाग लिया। इनमे यूरोप से यूगोस्लाविया और अमरीकी महाद्वीप से क्यूबा को छोड़कर शेष सभी देश एशिया और अफ़्रीका के थे। तीन अन्य देशों ने प्रेक्षकों के रूप में भाग लिया। सम्मेलन के अंत में जारी बयान में गुटनिरपेक्षता के मूलभूत सिद्धांतों की घोषणा की गई थी। ये सिद्धांत हैं — स्थायी शांति, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के सभी रूपों का ख़ात्मा, राष्ट्रों के बीच शांतिपूर्ण सहअस्तित्व, नस्ली भेदभाव की निंदा, सैनिक गुटों का विरोध, निरस्त्रीकरण, मानवीय अधिकारों के प्रति सम्मान, राष्ट्रों के बीच समानता के आधार पर शोषण-युक्त आर्थिक संबंधों की स्थापना, आदि।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन के सदस्य देशों की संख्या से गुटनिरपेक्षता की नीति की लोकप्रियता का पता चलता है। 1961 के बेलग्रेद सम्मेलन में 25 देशों ने भाग लिया था। मगर आज 109 देश गुटनिरपेक्षता की नीति पर चल रहे हैं। ये देश एशिया, अफ्रीका, यूरोप और अमरीकी महाद्वीपों के हैं। गुटनिरपेक्ष आंदोलन का दसवाँ शिखर सम्मेलन 1992 में जकार्ता (इंडोनेशिया) में हुआ। सातवाँ शिखर सम्मेलन दिल्ली में हुआ था जिसकी अध्यक्षता तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने की थी। 1979 में छठवाँ शिखर सम्मेलन हवाना (क्यूबा) में हुआ था। इस सम्मेलन की अध्यक्षता राष्ट्रपति फ़िदेल कास्त्रो ने की थी। फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन (पी.एल.ओ.) तथा दक्षिण अफ़्रीका पीपुल्स आरगेनाइज़ेशन — राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के इन दोनों संगठनों को गुटनिरपेक्ष आंदोलन की पूर्ण सदस्यता प्राप्त थी। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि जिस नामीबिया की मुक्ति संघर्ष का नेतृत्व स्वापो ने किया था, वह अब स्वतंत्र हो चुका है। दक्षिण अफ्रीका 1994 में गुट निरपेक्ष आंदोलन का 109वां सदस्य बना। विश्व की गतिविधियों में और खासतौर से उपनिवेशवाद की समाप्ति और दुनिया में शांति कायम करने में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की रचना के लिए गुटनिरपेक्ष देश काम कर रहे है। इस नई व्यवस्था में राष्ट्रों के बीच समानता के आधार पर आर्थिक संबंध बनेंगे। इस नई व्यवस्था में कोई भी दूसरे देश का आर्थिक शोषण नहीं करेगा तथा राष्ट्रों के बीच असमानता की खाई कम होगी।

हाल में हुए बदलाव

अभी हाल के कुछ वर्षों में जो परिवर्तन हुए हैं, जैसे कंबोडिया में, इसाइल (फिलिस्तीन) में, नामीबिया और दक्षिण अफ़्रीका में, उनकी चर्चा इस अध्याय में की जा चुकी है। इन परिवर्तनों के साथ दुनिया में जो और परिवर्तन हुए हैं, वे काफ़ी दूरगामी हैं और कहा जा सकता है कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद विश्व इतिहास में नए चरण की शुरुआत हुई है। इनमें से कुछ परिवर्तन तो इतने एकाएक हुए हैं कि उनके महत्व को पूरी तरह समझने में समय लगेगा। संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के बीच शत्रुता तथा इनके नेतृत्व वाले सैनिक गुटों के बीच सशस्त्र टकराव, दूसरे विश्वयुद्ध के बाद के चार दशकों के विश्व इतिहास की प्रमुख विशेषता है। यह दौर शीत युद्ध का है। इसी दौर में नरसंहार के लिए नए-नए शस्त्रों को तैयार किया गया और उनका बड़े पैमाने पर उत्पादन किया गया। इससे मानव जाति के अस्तित्व के लिए ही ख़तरा पैदा हुआ। 1970 के दशक और 1980 के दशक के आरंभिक सालों में शीत युद्ध को समाप्त करने की दिशा में कुछ प्रयास किए गए। संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ के बीच कुछ विशेष किस्म के प्रक्षेपास्त्रों तथा कुछ विशेष प्रकार के घातक हथियारों की संख्या कम करने पर समझौते हुए जिनको कुछ ख़ास-ख़ास इलाकों में लगाया गया था। लेकिन शीत युद्ध समाप्त करने की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में अनेक बार बाधाएँ खड़ी हुईं। 1979 में सोवियत संघ ने अपनी फौजें अफ़ग़ानिस्तान में उतार दीं। इसके कारण संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ के बीच तनाव और बढ़ गया। संयुक्त राज्य अमरीका ने नए तथा और ज्यादा घातक हथियार विकसित करने का कार्यक्रम शुरू किया जिसे आमतौर पर "स्टार वार" नाम से जाना जाता है। इन हथियारों का अर्थ यह था कि युद्ध अब अन्तरिक्ष में लड़ा जाएगा तथा अन्तरिक्ष से ही इन हथियारों का इस्तेमाल होगा। लेकिन 1980 के दशक के मध्य तक इस स्थिति में सुधार होने लगा और इसी दशक के अन्त तक स्पष्ट हो गया (और अधिक निश्चयपूर्वक कहा जा सकता था) कि अब

गुटनिरपेक्षता

"गुटनिरपेक्ष" शब्द की अलग-अलग ढंग से व्याख्या की जा सकती है, परन्तु मूलतः इस शब्द का गठन और प्रयोग विश्व के महान शक्ति गुटों के प्रति निरपेक्ष रहने के संदर्भ में किया गया था। "गुटनिरपेक्ष" का अर्थ नकारात्मक है। लेकिन यदि हम इसे सकारात्मक अर्थ दें तो इसका अर्थ उन राष्ट्रों से है जो युद्ध के प्रयोजन से गुट बनाने, सैनिक गुटों, सैनिक गठबन्धनों या इसी प्रकार के अन्य गुटों के बनाने का विरोध करते हैं। हम ऐसी किसी भी गतिविधि से दूर रहकर अपनी संपूर्ण सामर्थ्य से शांति के पक्ष का समर्थन करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जब कभी भी वास्तविक संकट की कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जिसमें युद्ध की संभावना नजर आए तो यह तथ्य कि हम किसी भी गुट से संबद्ध नहीं हैं, हमें उस संकट को रोकने के लिए भरसक प्रयत्न करने के लिए प्रेरित करेगा...........

लगभग छह, सात या आठ वर्ष पहले गुटनिरपेक्षता एक दुर्लभ प्रवृत्ति थी। यहाँ वहाँ कुछ देश इसके बारे में पूछा करते थे और बाकी देशों ने इसका परिहास किया और किसी भी सूरत में इस नीति को गंभीरता से नहीं लिया। "गुटनिरपेक्षता ? यह क्या है ? आप या तो इस पक्ष में हैं या उस पक्ष में –" यह उनका तर्क होता था। आज यह तर्क अर्थहीन हो गया है। पिछले कुछ वर्षों का इतिहास यह बताता है कि गुटनिरपेक्षता की अवधारणा के प्रति समर्थन लगातार बढ़ा है। क्यों ? क्योंकि यह विश्व की घटनाओं की धारा के अनुकूल है, बहुत बड़ी संख्या में अवाम की विचारधारा के अनुकूल है, क्योंकि कोई देश चाहे गुटनिरपेक्ष था या नहीं, वहाँ के लोगों में शांति के लिए ज़बरदस्त चाह थी और वे किसी भी गुट द्वारा बड़ी-बड़ी सेना और परमाणु बमों के जमाव को उचित नहीं समझते थे। इसलिए उनका ध्यान उन देशों की ओर आकृष्ट हुआ जिन्होंने किसी भी गुट के साथ मिलने से इन्कार कर दिया.......

आज की दुनिया की सबसे बुनियादी सच्चाई है नई-नई ताकतवर शक्तियों का उदय। हमें इस नई दुनिया के संदर्भ में सोचना है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि साम्राज्यवाद तथा पुरानी शैली के उपनिवेशवाद का अंत हो जाएगा परन्तु ये नवीन शक्तियाँ औरों को और तरीकों से हमारे ऊपर आधिपत्य स्थापित करने में सहायता कर सकती हैं, निश्चित तौर पर अल्पविकसित और पिछड़े हुए देशों पर। इसलिए हमारे लिए पिछड़ा रहना मुमकिन नहीं है........

हमें अपने देशों में ऐसे समाज को निर्मित करना है जिसमें आज़ादी वास्तविक हो। आज़ादी ज़रूरी है क्योंकि यही हमें शक्ति देगी तथा हममें खुशहाल समाज निर्मित करने की सक्षमता पैदा करेगी। हमारी यही बुनियादी समस्याएँ हैं। जब हम इन बुनियादी समस्याओं के संदर्भ में सोचते हैं तो हमें युद्ध का विचार पहले से भी अधिक मूर्खतापूर्ण लगता है। यदि हम युद्ध को रोक नहीं सकते तो हमारी सभी समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी रहेंगी और हम उनका समाधान नहीं कर सकेंगे। परन्तु यदि हम युद्ध को रोक सकें तो इन्हीं समस्याओं के समाधान में आगे बढ़ सकते हैं। हम विश्व के उन हिस्सों को आज़ाद कराने में सहायता दे सकते हैं जो अभी भी औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी शासन के अधीन हैं और हम अपने-अपने देशों में स्वतंत्र तथा समृद्ध समाज का निर्माण कर सकते हैं। हमें यही सकारात्मक कार्य करना है........

2 सितम्बर, 1961 को बेलग्रेद में हुए गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के
प्रथम सम्मेलन में जवाहरलाल नेहरू के भाषण से उद्धृत
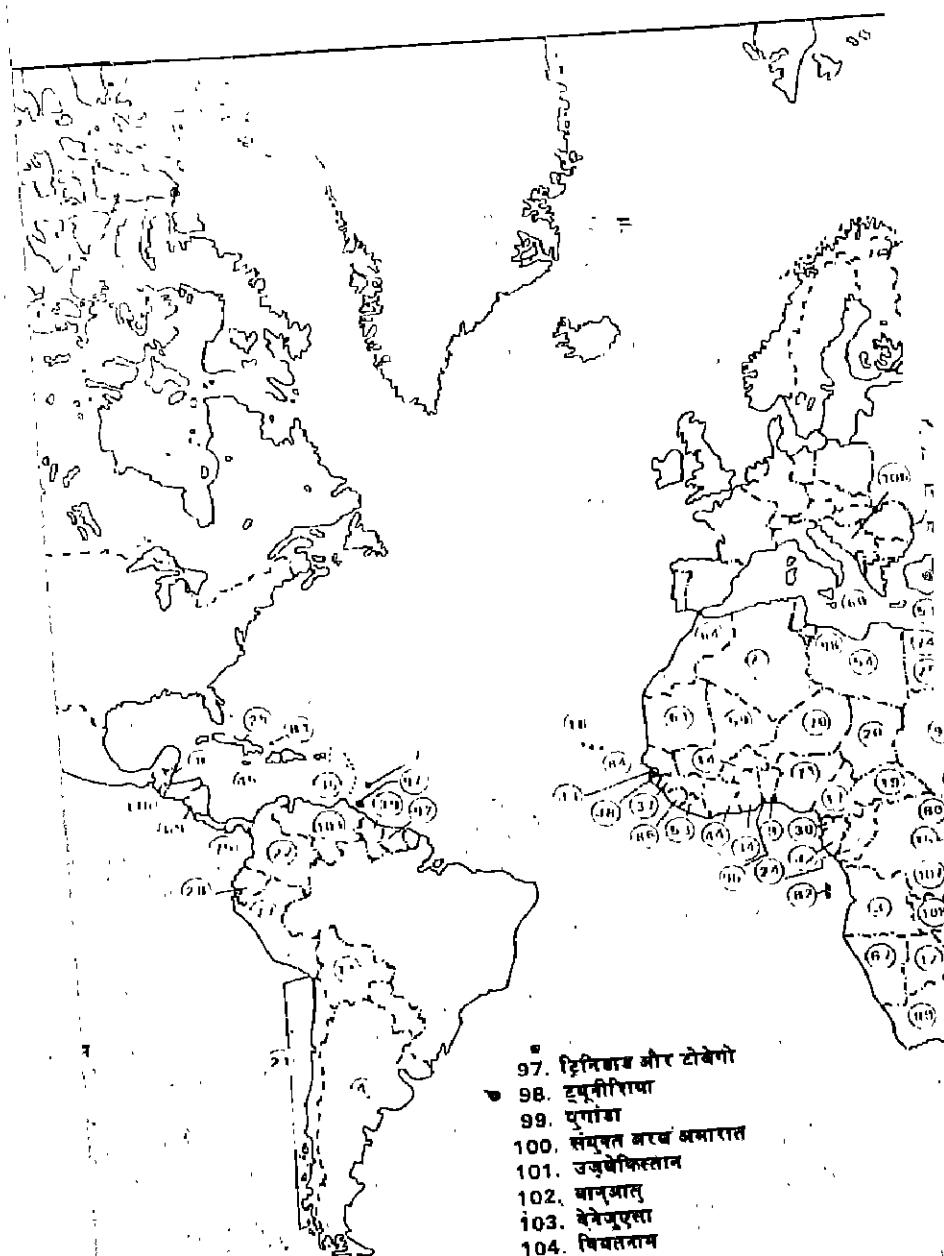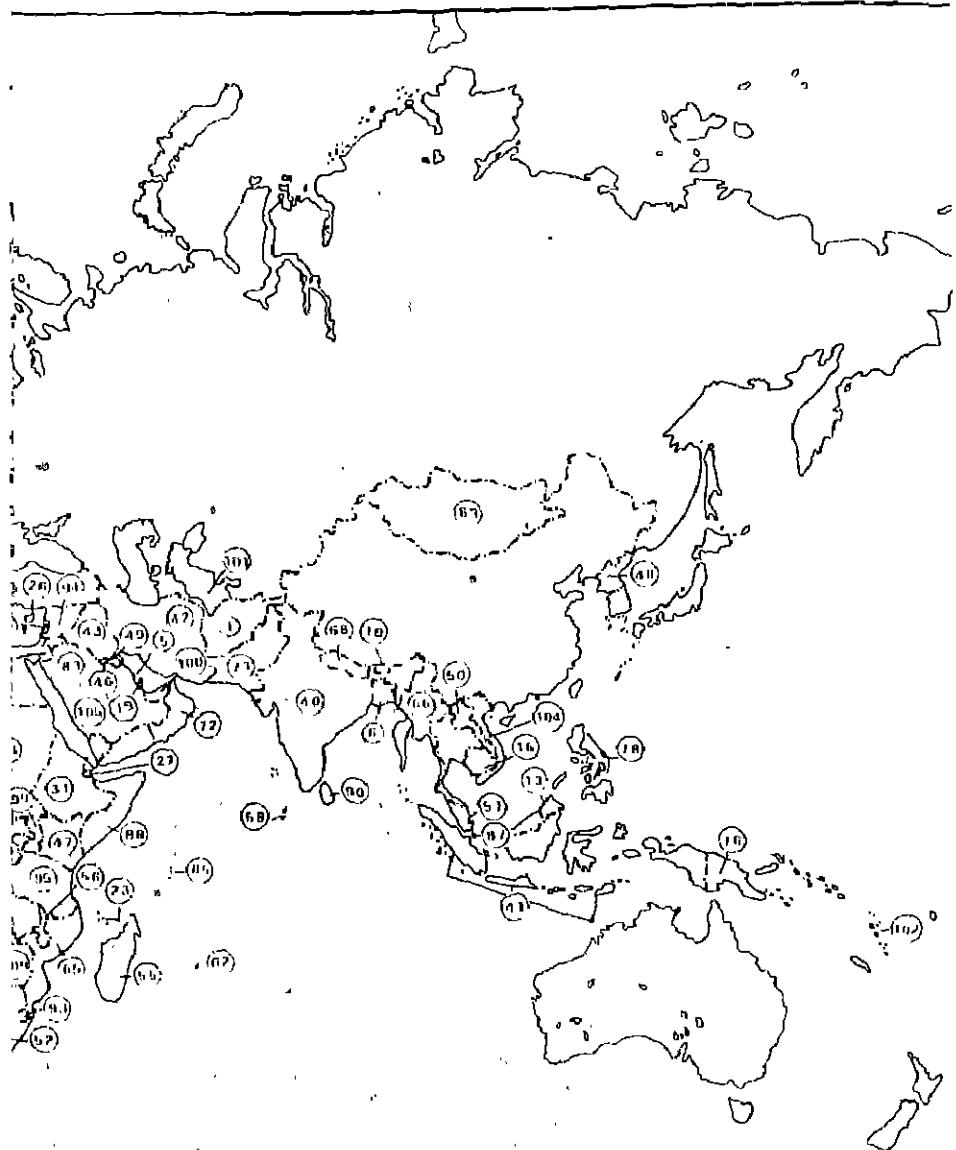
गुट निरपेक्ष देशों का पहला शिखर सम्मेलन बेलग्रेड में 1 से 6 सितम्बर 1961 में हुआ। इस में 26 देशों ने भाग लिया। इन देशों को सूची में ● से दर्शाया गया है। मिस्र और सीरिया उस समय एक राज्य थे जिसे संयुक्त अरब गणराज्य के नाम से जाना जाता था। 1994 में लोकतांत्रिक सरकार बनने के बाद दक्षिण अफ्रीका भी गुट-निरपेक्ष आंदोलन का सदस्य बन गया।

शीत युद्ध के युग का अंत हो गया है। 1989 के शुरुआत में सोवियत फ़ौजें अफ़ग़ानिस्तान से वापस चली गईं। 1980 के दशक के अंतिम समय में और भी कई परिवर्तन हुए और आमतौर पर लोगों में इस पर सहमति है कि अब हम शीत युद्धोत्तर काल में रह रहे हैं। इसे हाल के वर्षों में होने वाले परिवर्तनों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा रचनात्मक परिवर्तन माना जा सकता है।

विश्व के दो क्षेत्रों में एतिहासिक महत्व के दूरगामी परिवर्तन हुए हैं। इनमें एक क्षेत्र वह है जो 1991 के लगभग अंत तक सोवियत संघ कहलाता था दूसरा क्षेत्र पुर्वी और मध्य यूरोप के वे देश हैं जहाँ द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कम्युनिस्ट पार्टी की सरकारें बनी थीं। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन सोवियत संघ का पतन और वहाँ कम्युनिस्ट शासन का ख़ात्मा है। इसी प्रकार पूर्वी यूरोप के देशों में भी कम्युनिस्ट शासन समाप्त हो चुका है। स्तालिन की मौत के तीन साल बाद सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी ने स्तालिन द्वारा की गई ज़्यादतियों की भर्त्सना की। 1985 से सोवियत संघ की राजनीतिक प्रणाली में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तनों का प्रवेश प्रारंभ हुआ। इनका लक्ष्य राजनीतिक लोकतंत्र को बढ़ावा देना था। हर मुद्दे पर स्वतंत्र और खुली बहस होती थी। विचारों और अभिव्यक्ति की आज़ादी पर से बंदिशें हटा दी गईं। जनता की रहन-सहन की हालत सुधारने और अर्थव्यवस्था में शुरू हुए गतिरोध को तोड़ने के लिए अर्थव्यवस्था में सुधार प्रारंभ किए गए। सारी दुनिया में इन सुधारों को मान्यता प्राप्त हुई। रूसी भाषा के दो शब्द "पेरेस्त्रोइका" (पुनर्गठन) और "ग्लास्नोस्त" (खुलापन) से इन सुधारों का वर्णन किया गया था और सारे विश्व में ये शब्द प्रचलित हुए थे। देश के राजनीतिक जीवन पर कम्युनिस्ट पार्टी की पकड़ ढीली हुई तथा अन्य राजनीतिक दलों को भी काम करने की इजाज़त दी गई। इसी दौरान गणराज्यों ने अधिक स्वायत्तता की माँग रखी जिनको मिलाकर सोवियत संघ बना था। कुछ गणराज्य तो पूरी तरह स्वतंत्र होना चाहते थे। अधिक स्वायत्तता करने वाले नए समझौते की रूपरेखा बनाने की कोशिश की गई। इस रूपरेखा में संघ के ढाँचे को सुरक्षित रखने की भी कोशिश थी। बहरहाल, अगस्त 1991 में कुछ कम्युनिस्ट नेताओं ने मिलकर सत्ता का तख़्ता पलटने का प्रयास किया। यद्यपि सत्ता को बदलने की यह कोशिश नाकाम रही, लेकिन इसके फलस्वरूप सोवियत संघ के विघटन की प्रक्रिया और तेज़ हो गई। कई गणराज्यों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। 25 दिसबंर, 1991 को सोवियत संघ के राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाचोव ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। वे इस दौर में सोवियत संघ के राष्ट्रपति थे तथा सुधारों की पहल उन्होंने ही की थी। अब सोवियत संघ का औपचारिक अस्तित्व भी समाप्त हो गया। सोवियत संघ लगभग सात दशकों तक विश्व के ऐतिहासिक विकास को प्रभावित करता रहा था। वह बिखर गया तथा उसके स्थान पर 15 स्वतंत्र गणराज्यों का जन्म हुआ। ये सब पहले सोवियत संघ के ही गणराज्य थे। इन सभी गणराज्यों में कम्युनिस्ट पार्टी का शासन समाप्त हो चुका है, इनमें से कई गणराज्यों को गंभीर राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। इन गणराज्यों को आपस में भी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, क्योंकि इनमें से बारह ने आपस में मिलकर एक ढीला परिसंघ बनाया है जिसको स्वतंत्र राज्यों का राष्ट्रकुल (कॉमन वेल्थ) कहा जाता है। इन गणराज्यों को इस पुस्तक के अध्याय 3 में दिए गए सोवियत संघ के नक्शे में दर्शाया गया है, यद्यपि इनमें से कुछ गणराज्यों के नाम कुछ बदल गए हैं। नए नाम इस प्रकार हैं : रूसी संघ (पहले यह आर.एस.एफ.एस.आर. था), कज़ाख़िस्तान (पहले कज़ाख सोवियत समाजवादी गणतंत्र), एस्तोनिया (पहले एस्तोनिया सोवियत समाजवादी गणतंत्र), लैत्विया (पहले लैत्वियन सो.स.ग.), लिथुआनिया (पहले लिथुआनियन सो.स.ग.), बेलारूस (पहले बाइलोरूस सो.स.ग.), उक्रेन (पहले युक्रेन सो.स.ग.), मोल्दोवा (पहले मोल्दावियन सो.स.ग.), आर्मेनिया (पहले आर्मेनियन सो.स.ग.), ज़ॉर्जिया (पहले ज़ॉर्जियन सो.स.ग.), अज़र बैजान (पहले अज़र बैजान सो.स.ग.) तुर्कमेनिस्तान (पहले तुर्कमेन सो.स.ग.), उज़बेकिस्तान (पहले उज़्बेक सो.स.ग.), ताजिकिस्तान (पहले ताजिक सो.स.ग.) तथा किरगिज़स्तान (पहले किरगिज़ सोवियत समाजवादी गणराज्य)।

उन देशों में भी इतने ही महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं

जिनमे पहले कम्युनिस्ट पार्टियों का शासन था। इनमें से कुछ देशों में रूसी नियंत्रण के ख़िलाफ़ आक्रोश था। यह आक्रोश 1950 के दशक से ही सोवियत संघ के नियंत्रण तथा सोवियत समर्थित कम्युनिस्ट पार्टी के शासन के विरुद्ध रहा है। ऐसे भी अवसर आए जब इन देशों में उथल-पुथल को दबाने के लिए सोवियत सेनाओं का उपयोग किया गया। सोवियत संघ में हुए परिवर्तनों का यहाँ सीधा असर हुआ। 1980 के दशक के अंत में इन सारे देशों में बड़े पैमाने पर जनांदोलन उठ खड़े हुए।1989 तक उनके ऊपर से सोवियत नियंत्रण ख़त्म हो गया। इन देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों का राजनीतिक सत्ता से एकाधिकार ख़त्म हो गया। स्वतंत्र चुनाव हुए और नई सरकारें गठित हुईं। ध्यान देने की बात यह है कि इनमें से अधिकांश देशों में ये परिवर्तन बिना किसी ख़ूनख़राबे के हुए। कुछ देशों में उन नेताओं पर मुकदमे चलाए गए और उन्हें जेल की सज़ा हुई जिन्होंने अपने पद और अधिकार का निजी लाभ के लिए इस्तेमाल किया था। बहुत-सी कम्युनिस्ट पार्टियों से जो अपने देश में अब शासक पार्टी नहीं रह गई थीं, अपने कुछ भूतपूर्व नेताओं को पार्टी से निकाल दिया, जिनके कारण वहाँ ज्यादतियाँ हुई थीं। रूमानिया में तो कम्युनिस्ट पार्टी के नेता को मृत्युदंड दिया गया जो वहाँ 15 साल से वास्तव में तानाशाह थे। 1991 में वारसा संधि भंग कर दी गई। कम्युनिस्ट शासन वाले देश इसके सदस्य थे। यह एक प्रकार का सैनिक गठजोड़ था और रूस इसका नेता था।

जो परिवर्तन जर्मनी में हुए, वे और दूरगामी थे। दूसरे विश्वयुद्ध के समाप्त होने के कुछ समय बाद ही जर्मनी को दो स्वतंत्र राज्यों में बाँट दिया गया था, इस बात की चर्चा इसी अध्याय में की जा चुकी है। जर्मनी का विभाजन यूरोप में तनाव और शीत युद्ध का मुख्य कारक रहा है। पूर्वी बर्लिन पूर्वी जर्मनी की राजधानी था (इसे जी. डी. आर. या जर्मन जनवादी गणतंत्र भी कहते थे)। पश्चिम बर्लिन पूर्वी जर्मनी के इलाके में स्थित था लेकिन यह पश्चिम जर्मनी का हिस्सा था (इसे जर्मन संघीय गणराज्य या एफ.आर. जी. कहा जाता था)। 1961 में जर्मन जनवादी गणतंत्र के अधिकारियों ने पूर्वी तथा पश्चिमी बर्लिन को अलग करने के लिए एक दीवार बना दी ताकि पूर्वी बर्लिन के लोग पश्चिमी बर्लिन न जा सकें। इस दीवार का बनना यूरोप में तनाव का एक और कारण बन गया। 1989 में जर्मन जनवादी गणतंत्र (जी. डी. आर.) में कम्युनिस्ट शासन की समाप्ति तथा जर्मनी के एकीकरण की प्रक्रिया तब शुरू हुई जब बर्लिन की दीवार को खोल दिया गया तथा कम्युनिस्ट पार्टी के नियंत्रण से बाहर की राजनीतिक पार्टियों को (कम्युनिस्ट पार्टी को सोशलिस्ट यूनिटी पार्टी कहा जाता था) काम करने की इजाज़त दी गई। 1990 के प्रारंभ में चुनाव हुए तथा नई सरकार सत्ता में आई। 3 अक्तूबर, 1990 को जर्मनी का विभाजन समाप्त हो गया तथा पुन: एक संघटित जर्मनी का उदय हुआ।

सोवियत संघ का पतन तथा यूरोप में कम्युनिस्ट शासन का ख़ात्मा शीत युद्ध के अंत के महत्वपूर्ण कारक रहे हैं। इन्हें समाजवाद के पीछे हटने का प्रतीक भी कहा जा सकता है। बहरहाल, कहा जा सकता है कि इन देशों में जिस व्यवस्था की रचना की गई, वह समाजवादी आदर्शों का विकृत संस्करण था और उस आदर्श का जो सारतत्व था, सामाजिक न्याय, वह आज समूची दुनिया में जनता की चेतना का हिस्सा बन चुका है।

भूतपूर्व सोवियत संघ की तरह ही पूर्वी यूरोप तथा मध्य यूरोप में जहाँ परिवर्तन हुए हैं, वे भी समस्याओं से मुक्त नहीं हैं। इन समस्याओं का स्वरूप आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद चेकोस्लोवाकिया नए राज्य के रूप में उभरा था। इसका दो स्वतंत्र राज्यों के रूप में विभाजन हो चुका है, पहला राज्य चेक गणराज्य है तथा दूसरा स्लोवाक गणराज्य। एकीकृत जर्मनी में नवनाज़ीवादियों ने आव्रजकों के ख़िलाफ़ हिंसक वारदातें की हैं, इसके कई उदाहरण सामने आए हैं।

हाल के वर्षों में यूगोस्लाविया में जो घटनाएँ हुई हैं, उनका स्वरूप काफ़ी दुखद है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जिस यूगोस्लाविया का राज्य के रूप में उदय हुआ, उस पर दूसरे युद्ध के बाद से कम्युनिस्ट पार्टी का शासन था। लगभग आरंभिक समय से ही यूगोस्लाविया की कम्युनिस्ट सरकार ने अपने को सोवियत संघ के प्रभाव से मुक्त रखा। गुटनिरपेक्ष आंदोलन के जन्मदाता देशों में यूगोस्लाविया भी था। छः गणराज्यों का यह संघ था। यहाँ कम्युनिस्ट पार्टी

का शासन 1990 में ख़त्म हुआ। 1992 तक आते-आते यूगोस्लाविया 5 स्वतंत्र राज्यों में विभाजित हो गया। इसमें से बनने वाले नए राज्यों के नाम इस प्रकार हैं: यूगोस्लाविया का नया राज्य जो सर्बिया तथा मॉनटेनेग्रो को मिलाकर बना है, क्रोशिया, मैकेडोनिया, स्लोवेनिया तथा बोस्निया-हर्ज़ेगोविना। यूगोस्लाविया के टूटने से इसकी समस्याओं का अंत नहीं हुआ। बोस्निया-हर्ज़ेगोविना के निवासी तीन समुदायों के हैं। बोस्निया के सर्ब, बोस्निया के क्रोर और बोस्निया के मुसलमान। तीनों समुदायों में आपस में युद्ध होता रहा है, ख़ासतौर पर सर्बों और मुसलमानों में । इससे वहाँ की जनता को घोर कष्ट झेलना पड़ रहा है।

जबकि यूरोप के एक हिस्से में इस प्रकार की घटनाएँ घट रही हैं, दूसरे पश्चिमी भाग में (इसमें जर्मनी भी शामिल है) यूरोपीय एकता कायम करने का प्रस्ताव है। एक सीमाहीन यूरोप की रचना का विचार भी इसमें शामिल है। इसकी एक मुद्रा होगी, माल-असबाब और लोगों के आने जाने पर कोई प्रतिबंध नहीं होगा और अंत में एक राजनीतिक संघ होगा जिसकी एक संसद होगी। इस दिशा में पहले ही कुछ कदम उठाए जा चुके हैं। बहरहाल, ध्यान रहे कि वर्तमान समय में यूरोपीय एकता की इस अवधारणा में पूर्वी यूरोप तथा कुछ दूसरे देशों को बाहर रखा गया है।

दुनिया के दूसरे हिस्सों में भी महत्वपूर्ण बदलाव हुए हैं। चीन में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना के बाद उसके आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अनेक उथल-पुथल देखने को मिली। 1975 में माओ ज़ेडांग की मौत के बाद देश की आर्थिक नीतियों में कई परिवर्तन हुए हैं। इनका लक्ष्य अर्थव्यवस्था का आधुनिकीकरण है। इसके लिए विदेशी पूँजी तथा विदेशी कंपनियों को आंमत्रित किया गया है और इनकी भूमिका काफ़ी महत्वपूर्ण है। कई ऐसी बातों को त्याग दिया गया है जिन्हें पहले साम्यवादी अवधारणा का आधार माना जाता था। चीन की विदेश नीति में भी बदलाव आया है। भारत-चीन के आपसी रिश्ते भी सुधरे हैं लेकिन चीन के राजनीतिक जीवन में बहुत कम परिवर्तन हुआ है और आज भी इस पर कम्युनिस्ट पार्टी का एकमात्र नियंत्रण है। कुछ वर्ष पहले जब कुछ छात्रों तथा अन्य लोगों ने लोकतंत्र की माँग की तब उसे दबा दिया गया था।

इसके बावजूद कि हाल के वर्षों में अनेक सकारात्मक परिवर्तन हुए हैं, 1990 के दशक की दुनिया तनावों और टकरावों से मुक्त नहीं हो सकी है। जबकि नाभिकीय हथियार वाले युद्ध का ख़तरा समाप्त हो गया है या कम से कम घट गया है, सामूहिक नरसंहार वाले अस्त्र-शस्त्र का भंडार अभी कम नहीं हुआ है। इनकी मौजूदगी ही मानवजाति के अस्तित्व के लिए ख़तरे का स्रोत है। इसी प्रकार शीत युद्ध के अंत के साथ देखना है कि क्या सचमुच दुनिया शांतियुग की ओर मुड़ी है, उससे बढ़कर यह देखना है और यह महत्वपूर्ण है कि एक दूसरे के बीच सहयोग होता है या नहीं। सोवियत संघ के पराभव के साथ संयुक्त राज्य अमरीका दुनिया की एकमात्र महाशक्ति हो गया है। जहाँ वारसा संधि भंग हो चुकी है संयुक्त राज्य अमरीका की अगुआई वाला नाटो नामक सैनिक गुट अपना अस्तित्व अभी भी कायम रखे हुए है। इस प्रकार आशंकाएँ प्रगट की जा रहीं हैं कि वर्तमान समय ऐसी परिस्थिति को संभव बना सकता है जिसमें संयुक्त राज्य अमरीका अपनी महाशक्ति के आधार पर दूसरों पर अपना आदेश लादे।

1990 के दशक की दुनिया, अपनी पूर्ववर्ती दुनिया से, सारी समस्याओं के बावजूद एकदम भिन्न है। सारी दुनिया में अपने भाग्य के निर्धारण में जनता की भागीदारी पहले की अपेक्षा कहीं ज़्यादा है। इतिहास में पहली बार एक विश्व की रचना की संभावना दिखाई पड़ रही है जिसमें सारा जनगण एक दूसरे से सहयोग करेगा और अपना तथा शेष संपूर्ण मानवता के जीवन को संपन्न बनाने में अपना योगदान करेगा।

अभ्यास

जानकारी के लिए

1. यूरोप के लिए द्वितीय विश्वयुद्ध के क्या तात्कालिक परिणाम हुए ? युद्ध के बाद यूरोप का राजनीतिक मानचित्र युद्ध से पहले की तुलना में कैसे भिन्न था ?
2. शीत युद्ध से क्या तात्पर्य है ? इसे जन्म देने वाले कारक कौन-कौन से थे ?
3. एशियाई देशों में स्वाधीनता-आंदोलनों के विकास की रूपरेखा दीजिए।
4. संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति के प्रमुख उद्देश्य क्या थे ? वियतनाम में संयुक्त राज्य अमरीका के सैनिक नीति हस्तक्षेप का क्या कारण था ? इसके क्या परिणाम हुए ?
5. 1974 की पुर्तगाली क्रांति का पुर्तगाल के अफ्रीकी उपनिवेशों पर क्या प्रभाव पड़ा ?
6. अफ्रीका के वे देश कौन-कौन से हैं जहाँ 1985 के बाद भी मुक्ति संघर्ष चल रहा था ?
7. गुटनिरपेक्षता से क्या तात्पर्य है ? अधिकांश नवस्वाधीन देशों ने इस नीति का अनुसरण क्यों किया ?
8. अफ्रीका में स्वाधीनता-आंदोलनों के विकास की रूपरेखा दीजिए।
9. दक्षिण अफ्रीका में 1989 के बाद क्या तब्दीलियाँ हुई हैं ?
10. उन घटनाओं का वर्णन कीजिए जिनके कारण सोवियत संघ का पतन हो गया।
11. 1989 के बाद जर्मनी और पूर्वी यूरोप में हुई मुख्य घटनाओं का वर्णन कीजिए।

करने के लिए

1. यूरोप के मानचित्र पर उन देशों को दर्शाइए जहाँ द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कम्युनिस्ट सरकारें कायम हुई थीं।
2. 1960 के बाद स्वाधीनता पाने वाले अफ्रीकी देशों के बारे में जानकारी प्राप्त कीजिए। इन देशों को एक मानचित्र पर दर्शाइए।
3. 1992 में जकार्ता में हुए गुटनिरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलन द्वारा जारी घोषणा की एक प्रति प्राप्त करने का प्रयास कीजिए और इसका अध्ययन कीजिए।
4. जिन देशों में गुटनिरपेक्ष आंदोलन के शिखर सम्मेलन हुए हैं उनकी तथा इन सम्मेलनों में शामिल देशों की भी सूचियाँ बनाइए।
5. 1993 के बाद दक्षिण अफ्रीका में हुई घटनाओं के बारे में सूचना एकत्र कीजिए तथा उनकी एक रिपोर्ट बनाइए।
6. यूगोस्लाविया के हालात और 1993 के इस्राइल और पी.एल.ओ के बीच हुए समझौते को लागू करने के लिए क्या-क्या कदम उठाए गए ? इस पर सूचनाएँ एकत्र कीजिए।

विचार और वाद-विवाद के लिए

1. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवाद को कमजोर करने वाले कारणों की चर्चा कीजिए।
2. क्या शीत युद्ध ख़त्म हो गया है ? इस पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
3. एशिया के कुछ देश सैनिक गुटों में शामिल थे। आपकी राय में क्या इससे उनकी स्वाधीनता को मज़बूती मिली थी ? क्यों ? या क्यों नहीं ? उदाहरणों सहित अपने विचारों के समर्थन में तर्क दीजिए।

4. स्वतंत्र राष्ट्रों के रूप में एशियाई और अफ्रीकी देशों के उदय से विश्व पर पड़ने वाले प्रभावों की चर्चा कीजिए।
5. क्या कारण है कि सोवियत संघ तथा यूरोप के अन्य देशों में कम्युनिस्ट सरकारों का पतन हुआ? क्या आप मानते हैं कि इनके पतन का अर्थ है कि अब सामाजवाद का विचार अप्रासंगिक हो गया ? अपने विचार प्रकट कीजिए।
6. क्या आप समझते हैं कि शीतयुद्ध के बाद की दुनिया रहने के लिए अधिक सुरक्षित जगह है और इस बात का ख़तरा नहीं है कि एक देश दूसरे पर प्रभुत्व कायम करेगा ? विचार कीजिए।